विक्रमाङ्कदेवचरितम् का सांस्कृतिक अनुशीलन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की

डी०फिल्० उपाधि हेतु

प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशिका

डॉ० (श्रीमती) मञ्जुला जायसवाल
(रीडर) संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तोता

अनिल कुमार त्रिपाठी

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2002

त्वदीयं वस्तु शोधं मे
गुरो तुभ्यं समर्पये।
स्वीकुरु हर्षितो भूत्वा
प्रबन्धं नवकल्पितम् ॥

विक्रमाङ्कदेवचरितम् का सांस्कृतिक अनुशीलन–

- राजनीतिक स्थिति

- राजा
    - राज परिवार में शिक्षा–दीक्षा
    - राज्याभिषेक
    - सामन्त राजा
    - राजा के कर्त्तव्य
    - राज्य की स्थिति
- मंत्री
- राजगुरू, कुल पुरोहित
- कानून और न्याय
- दुर्ग
- प्राचीर
- गुप्तचर
- युद्ध प्रणाली
    - शस्त्र–अस्त्र
    - तलवार
    - धनुषबाण
    - गड़ासा
    - गुलेल
- युद्ध की शैली
- युद्ध की नीति
- सेना
    - सेना के गुण
    - हस्ति सेना
    - अश्व सेना

आत्म–निवेदन

सर्वप्रथम इस शोध प्रबन्ध की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए वाग्देवी एवं पूज्याभिपूज्यां माँ स्वर्गीया श्रीमती प्रभू देवी के चरणों में सादर नमन करता हूँ। प्रस्तुत शोध–विषय का चयन मेरे विद्यार्थी जीवन में बिल्हण के उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक की यात्राओं तथा यात्रा के समय स्वानुभूत तथ्यों की मनोरम झाँकी, जो विक्रमाङ्कदेवचरितम् में मिलती है। उसके सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवेश के विषय में उपजी जिज्ञासा का प्रतिफल है। परास्नातकीय कक्षा में पढ़ते समय एकदा परमश्रद्धेया प्रो० श्रीमती ज्ञानदेवी श्रीवास्तव के द्वारा इस ग्रन्थ के विषय में सुनने पर तथा कालान्तर में इस ऐतिहासिक महाकाव्य के किञ्चित् अध्ययन से ही प्रस्तुत ग्रन्थ पर शोध करने की दृढ़ इच्छा हुई और मैंने बलवती होती इच्छाशक्ति के प्रभाववश शोधकार्य करने का निश्चय किया था। इस महाकाव्य के साहित्यिक अनुशीलन की प्रेरणा तो सम्मान्या श्रीमती ज्ञानदेवी श्रीवास्तव से प्राप्त हुई थी, लेकिन प्रस्तुत महाकाव्य के सांस्कृतिक अनुशीलन की प्रेरणा संस्कृत, पालि, प्राकृत प्राच्यभाषा, वेद एवं अवेस्ता के उद्‌भट विद्वान एवं वेद–विदग्ध प्रो० एवं पूर्व विभागाध्यक्ष श्री हरिशङ्कर त्रिपाठी जी की अहैतुकी प्रेरणा से ही सम्भव हुआ। पूज्यपाद गुरुवर्य जी ने बताया कि साहित्यिक की अपेक्षा सांस्कृतिक अनुशीलन सर्वथा मृग्य विषय होगा। एतद्विषयक पारस्परिक विचार–विमर्श के पश्चात् विक्रमाङ्कदेवचरितम् का सांस्कृतिक अनुशीलन मेरा शोध विषय निर्धारित होने पर वन्दनीय, साक्षात् ज्ञानस्वरूपा, विशेषणातीत श्रीमती डॉ० मञ्जुला जायसवाल जी ने मेरे पथ–प्रदर्शन का गुरुतर भार स्वीकार कर मुझे शोध–कार्य करने हेतु अभिप्रेरणा

प्रदान की। आपमें कठिन परिश्रम करन तथा कराने की अद्‌भुत सहज क्षमता के अतिरिक्त मैने उस प्रज्ञा–ज्योति के दर्शन किये, जिससे मेरे शोध मार्ग में आया तिमिर सरलतया दूर होता गया। शोध कार्य करते समय प्रौढ़ शोध दृष्टि का अभाव होने पर निर्देशिका जी की नूतन दृष्टि प्राप्त होने पर शोध–कार्य हेतु प्रेरित हुआ।

प्रकृत शोध–प्रबन्ध में सांस्कृतिक पर्यवेक्षण का विस्तारपूर्वक यथासम्भव वर्णन करने का प्रयास किया गया है। विवेचनक्रम में जिन बिन्दुओं का उद्‌घाटन नहीं हो पाया है, उनको प्रश्न रूप में करणीय बताकर छोड दिया गया है।

शोध प्रबन्ध का कलेवर सात अध्यायों वाला है–

इसके प्रथमाध्याय में ऐतिहासिक महाकाव्य की वस्तु–स्थिति एवं उसके प्रकृत्या विभाजन आदि पर विचार किया गया है। इसके पश्चात् ऐतिहासिक महाकाव्यों के लेखन की परम्परा तथा उनके उद्‌भव और विकास पर सम्यक् रूपेण विचार किया गया है। ऐतिहासिक महाकाव्यों के विकास की परम्परा को आद्योपान्त अवलोकन करने के उपरान्त महाकाव्यों के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला गया है।

इसके द्वितीयाध्याय में विक्रमाङ्कदेवचरितम् का एक सिंहावलोकन दिया गया है। इसके पश्चात् इसमें इस ग्रन्थ का सम्यक् ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करते हुए भारतीय इतिहास में कितने विक्रमादित्य हुए हैं। उन पर सम्पूर्ण उपलब्ध तथ्यों को विश्लेषित किया गया है। ग्रन्थ का सामान्य परिचय देते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ के महाकाव्यत्व का परीक्षण किया गया है। इसके कथानक का सार देते हुए इसके कर्त्ता के विषय में उनका जीवन परिचय, उनकी कालावधि समय तथा कृतित्त्व दिया गया है। द्वितीयाध्याय के अन्त में काव्य के कलापक्ष पर यत्किञ्चित् प्रकाश डाला

गया है।

तृतीयाध्याय में विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे वर्णित समाज की स्थिति तथा उसके अन्तर्गत आने वाली आश्रम व्यवस्था का वर्णन किया गया है। वर्णव्यवस्था का स्वरूप तथा उसकी सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। परिवार का स्वरूप, पारिवारिक ढ़ाँचा तथा उसके बन्धनों को साक्ष्यों के साथ रखा गया है। वैवाहिक व्यवस्था, समाज में नारी का स्थान, मनोरजन, आवागमन हेतु वाहन व उनका महत्व बताया गया है। इस अध्याय के अन्त में सामाजिक विश्वास की स्थिति को पूर्वतन तथा अधुनातन परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है।

चतुर्थोध्याय में ग्यारहवीं शताब्दी मे आर्थिक ढाँचा एवं उसकी संरचना के प्रमुख आधारों पर प्रकाश डाला गया है। जैसे–आर्थिक दशा, अर्थोपार्जन के साधन, कृषि, पशुपालन, व्यापार, व्यापारिक फसलें, उद्योग, मुद्रा, क्रय–विक्रय, मापतौल तथा अन्त में कर प्रणाली के बारे में उपलब्ध सम्पूर्ण अभिलेखीय तथा साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर वर्णन किया गया है।

पञ्चमोध्याय में ग्रन्थ का मुख्यवर्ण्य–विषय 'राजनैतिक दशा' का वर्णन किया गया है, जिसमें राजा, मंत्री, कोष, दुर्ग, गुप्तचर युद्ध, युद्ध प्रणाली, अस्त्र–शस्त्र, युद्ध की शैली, युद्धक नीति, सेना तथा दूत का वर्णन किया गया है।

षष्ठाध्याय में धर्म के विषय में– ग्यारहवीं शताब्दी में कल्याणी के चालुक्यों के धर्मानुकरण तथा समसामयिक परिप्रेक्ष्य में अन्य धर्मों की सामाजिक स्थिति आदि का वर्णन किया गया। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में धर्म सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त रूप में नहीं प्राप्त होती। अतः इस अध्याय के सम्यक् विवेचन हेतु अभिलेखों से विशेष सहायता

ली गयी है।

सप्तमोध्याय में शिक्षा की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए कला के विकास पर प्रकाश डाला गया है। स्थापत्यकला, वास्तु कला, मूर्ति कला एवं जड़ाई की कला की स्थिति का विवेचन किया गया है।

शोध–प्रबन्ध के अन्त में विक्रमाङ्कदेवचरितम् के नायक राजा विक्रमाङ्कदित्य षष्टम् की सम्पूर्ण जानकारी के लिए कल्याणी के चालुक्य वंश की वंशावली का समग्र चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिससे सुधी जनों को ग्रन्थाध्ययन करते समय सरलतया ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध रहे और कवि–वर्णन सङ्गत तरीके से समझा जा सके। प्रकृत शोध प्रबन्ध में त्वरित बोधगम्यता के लिए ग्रन्थों के नाम अध्याय के अन्त में न देकर सङ्केतस्थल के पृष्ठ पर ही दे दिये गये हैं, साथ–साथ उसकी स्पष्टता का प्रयास भी किया गया है। अपने विचारों की अभिव्यक्ति में स्पष्टता तथा सरलता पर ध्यान दिया गया है।

जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है, प्रकृत शोध–प्रबन्ध में प्रथम अध्याय से सप्तम अध्याय तक जो भी विश्लेषण प्रस्तुत किये गये हैं, वे सभी आत्मविश्लेषण पर आधारित तथा मौलिक हैं। यद्यपि तत्कालीन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के परिज्ञान हेतु विक्रमाङ्कदेवचरितम् अपर्याप्त स्रोत है, अत एव भारतीय इतिहास तथा अभिलेखीय अध्ययन के माध्यम से ग्यारहवीं शताब्दी के दक्षिण भारत के सांस्कृतिक परिवेश को सम्पूर्ण भारत के सांस्कृतिक परिवेश के आलोक में देखने का प्रयत्न किया गया है।

इस शोध–प्रबन्ध–महामाला के लिए मोतियों को सज्जित करने की क्रिया में उनके पारस्परिक महत्व को समझ कर उनका विषयगत स्थान निर्देश करने में

वन्दनीय परमश्रद्धेया डॉ० मञ्जुला जायसवाल जी ने अपने ज्ञान और व्यक्तित्व–प्रकाश से जिस प्रकार मेरा अन्धतम् मार्ग आलोकित किया, उसके लिए मेरे जीवन की श्रद्धा उनके चरणों में समर्पित है। मेरे अभिलषित विषय के आदि से लेकर अन्त तक का सम्पूर्ण मार्ग उनकी कृपा प्रभा से भासित है। वैसे शोध में प्रवेश की समस्या जो कि स्वाभाविक तौर पर नये विद्यार्थी के समक्ष आती है, वह मेरे समक्ष भी आयी, लेकिन शोध करने की विधि तथा उसके क्रमशः आने वाले सोपानों का ज्ञान समय–समय पर गुरुवर्या द्वारा प्राप्त होने पर परिश्रम करने में आनन्द आने लगा। यद्यपि इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण सांस्कृतिक सामग्री नहीं है तथापि ऐतिहासिक ग्रन्थों के अध्ययन से यह समस्या भी हल हो गयी।

शोध निर्देशिका के अतिरिक्त शोध–प्रबन्ध को पूर्ण करने में जिन गुरुजनों का आशीर्वादपूर्ण सहयोग रहा है, उनमें डॉ० एच०एन० दुबे, रीडर, प्राचीन इतिहास विभाग; प्रो० ज्ञानदेवी श्रीवास्तव, पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग, पं० हरिभजनमणि त्रिपाठी जी (जिनको विज्जनों द्वारा आधुनिक भारद्वाज कहा जाता है); स्थायी सदस्य विश्वविद्यालय कार्यपरिषद सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी; वर्तमान विभागाध्यक्ष, प्रो० मृदुला त्रिपाठी आदि के प्रति तथा उन सभी गुरुजनों के प्रति जिन्होंने परोक्ष या अपरोक्ष रूप से शोध कार्य में सहयोग दिया, उनकी अनुकम्पा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना अपना पावन कर्त्तव्य समझता हूँ।

शोध प्रबन्ध के लेखन में पुस्तकालय सम्बन्धी सहायता में सर्वाधिक उपयोगी रहा डॉ० गङ्गानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ, इलाहाबाद। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद विश्वविद्यालय का पुस्तकालय तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, के पुस्तकालय से

भी आवश्यक सामग्री प्राप्त हुई।

अपने कुटुम्बीजनों एवं मित्रो का भी आभारी हूँ, जिन्होंने शोध–प्रबन्ध को पूरा करने में मेरी सहायता की है। प्राचीन ऋषियो की मान्यता है कि, पिता के प्रसन्न होने पर सभी देवता प्रसन्न हो जाते हैं,– ("पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः।") और मैने तो इसका अनुभव भी किया है क्योंकि ये उनका आशीर्वाद ही है कि मैं जब भी किसी लक्ष्य के प्रति समर्पित होना चाहा हूँ तो वो सारे काम सरलतम् ढंग से अनायास ही सिद्ध होते दिखे जिन्हें अनेकानेक प्रयासों के बाद भी सिद्ध नहीं किया जा सकता था। मुझे शैशवकाल से ही प्रातः स्मरणीय पूज्य पिता श्री का वरदहस्त प्राप्त है। उनके निर्व्याज स्नेह व आशीर्वाद से ही यह कार्य सम्पन्न हुआ है। परमात्मा उन्हें दीर्घायुष्य प्रदान करें। पिताजी श्री कृष्णदेव जी के अतिरिक्त मातृसम् पूज्या अग्रजाद्वय (दोनों दीदी) ने तथा अग्रज ने निरन्तर प्रेरणा दी।

यहाँ पर कतिपय संस्कृतवाङ्मयानुरागी तथा चिकित्सा एवं विधि आदि क्षेत्रों के विशेषज्ञों के प्रति आभार ज्ञापन करना आवश्यक समझता हूँ, जिन्होनें शोध कार्य करते समय अपने विशिष्ट संस्कृत अनुराग के कारण मुझे समय–समय पर गम्भीर साहित्यिक चिन्तन से लाभान्वित किया तथा शोध योग्य सामग्री उपलब्ध कराई। उनमें डॉ० आर०पी० पाण्डेय, श्री अशोक नाथ त्रिपाठी तथा श्री विकास पाण्डेय जी विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं।

मैं अपने उन मित्रों के प्रति भी समादरभावेन कृतज्ञता ज्ञापन करना चाहता हूँ जिन्होंने अपने व्यस्ततम् समय में से समय निकालकर अपना अमूल्य समय मेरे इस गुरुतर कार्य के सम्पन्नार्थ दिया। इनमें श्री संजीव कुमार पाण्डेय जी, श्री आनन्द

कुमार सिंह जी, श्री विनयकृष्ण पाण्डेय जी तथा अन्य इत्यसम् समादरणीय जनों का हार्दिक नमन करता हूँ, अपनी सम्पूर्ण शक्ति से समर्पित सेवायें देने के लिए विनीत एवं उत्साही अनुजसम् अतुल द्विवेदी, सूरज शुक्ल, प्रवीण त्रिपाठी तथा अनुराग तिवारी को मनस्वी तथा तेजस्वी होने का आशीर्वाद देता हूँ।

पुनश्च, प्रत्यक्ष सहयोगी शुभेच्छुओं के अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रियैषुओं को भी यहॉ स्मरण करना प्रासङ्गिक है, जिन्होनें शोध–सामग्री उपलब्ध कराने में तो नहीं लेकिन अपने स्नेहिल सहयोग, जिससे मैं अधिकाधिक समय अपने शोध–प्रबन्ध को दे सका और मुझे उनकी ईश्वर से की गई कामनाएं सम्बल बनकर प्रेरित करती रहीं, उनके सुखमय भविष्य की मैं कामना करता हूँ। समस्त प्रयत्नों के बाद भी अपनी मन्दमति के कारण मुझसे यहॉ पर यदि विश्लेषण करते समय सांस्कृतिक परिधि का अनपेक्षित उल्लंघन हो गया हो तो उसे अन्यथा न लेकर उदारचेता विद्वान् उसका शोधन करने की कृपा करें, एतदर्थ कुछ परिवर्तन के शब्दों में कहने का साहस कर रहा हूँ–

प्रयोग–सिद्धान्तविरूद्धमत्र यत्किञ्चिदुक्तं मतिमान्धदोषात्।
मात्सर्ममुत्सार्य उदारचेत्ता. प्रसादमाधाय समादधन्तु।।

❒ ❒ ❒

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः।।

विनयावनत्
अनिल कुमार त्रिपाठी

अनिल कुमार त्रिपाठी

प्रथम अध्याय

१. संस्कृत वाङ्मय में ऐतिहासिक महाकाव्य

२. ऐतिहासिक महाकाव्यों के लेखन की परंपरा (उद्‌भव और विकास)

३. ऐतिहासिक महाकाव्यों का वैशिष्ट्य

संस्कृत वाङ्मय में ऐतिहासिक महाकाव्य

काव्य शब्द की उत्पत्ति 'कवि' शब्द से 'ण्यत्' प्रत्यय पूर्वक हुई है जिसका अर्थ ऋषि या कवि के गुणों से युक्त या मंत्रद्रष्टाविषयक या पैगम्बरी प्रेरणा–प्राप्त है। मानव के अन्तस्तल में क्षण–क्षण में उत्पन्न होने वाले भावों के निरीक्षण तथा अभिव्यञ्जन में जिस कवि की वाणी रमती है वही सच्चा कवि होता है। वाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा भीतरी सौन्दर्य के वर्णन में कवि के कवित्व का सच्चा परिचय मिलता है। बाहरी सौन्दर्य भीतरी सौन्दर्य की तुलना में स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्तनीय है। आकाश चिरकाल से जैसा नीला था वैसा ही नीला है। बीच–बीच में वर्षा आदि के अवसर पर उसका वर्ण धूसर या कृष्ण हो जाता है, तथापि उसका स्वाभाविक रंग नीला ही है। समुद्र तथा नदियों का साधारण आकार तरंगों से परिपूर्ण होने पर भी एक ही प्रकार का है, परन्तु मनुष्य का हृदय नितान्त परिवर्तनशील होता है। उसमें घृणा भक्ति का रूप धारण कर लेती है, अनुकम्पा से प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है और प्रतिहिंसा से कृतज्ञता का जन्म होता है। जो कवि इस अन्तर्जगत् की विचित्रता के रहस्य को खोलकर दिखाता है वही यथार्थ में कवि के नाम से पुकारा जा सकता है।

संस्कृत आलोचनाशास्त्र 'विदग्ध' तथा 'विद्वान्' में पर्याप्त पार्थक्य स्वीकार करता है। 'विद्वान्' की दृष्टि कांव्य के केवल बाहरी चाकचिक्य और अलङ्कारों की सज्जा पर ही जमती है, परन्तु 'विदग्ध' काव्य के अन्तस्तल को परखता है और वह रसपेशल कविता के मर्म को पहचानता है। प्राचीनकाल में विदग्धता का प्राधान्य था परन्तु कालक्रम से विद्वता का ही मान तथा आदर बढ़ने लगा। फलतः कविजन

इन्हीं को काव्य का एक मात्र साधन मानने लगे। रस के उन्मीलन के स्थान पर अलङ्कार द्वारा प्रसाधन ही कवि कर्म की प्रधान कसौटी बन गया। आलङ्कारिकों ने इस परिवर्तित मनोवृत्ति को और भी विकृत तथा विपर्यस्त बना दिया।

संस्कृत भाषा निसर्गतः बड़ी ही कोमल तथा मधुर है। प्रतिभा सम्पन्न कवि के हाथ में पड़कर उसमें भाव प्रकाशन की अद्भुत क्षमता उत्पन्न हो जाती है। भावों की सूक्ष्मता के और मनोविकारों की अन्तरङ्ग व्यापकता के प्रकाशन में संस्कृत भाषा नितान्त समर्थ तथा सक्षम है। शब्द का सौष्ठव तथा पदावली का मधुमय विन्यास, पदों की कोमल शय्या संस्कृत जैसी संश्लिष्ट भाषा में जितनी सुन्दरता के साथ निबद्ध किये जा सकते हैं, उतनी रुचिरता से किसी भी अन्य विश्लेष–प्रधान भाषा मे नहीं।

वर्ण्य–विषय के विकास की दृष्टि से समस्त महाकाव्यों को हम चार वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं–

१. इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य,
२. भाव प्रधान महाकाव्य,
३. अलङ्कार प्रधान महाकाव्य तथा
४. इतिहास प्रधान महाकाव्य।

१. इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य–

जिसमें कथानक की प्रधानता हो अर्थात् काव्य के अन्य अङ्गों रस, अलंकारादि की अपेक्षा कथा के विकास में कवि ने अपनी प्रतिभा का अधिक उपयोग किया हो तथा उसमें नये मोड़ दिये हों, वह इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य होता है।

२. भाव प्रधान महाकाव्य–

संस्कृत साहित्य में कुछ ऐसे भी काव्यों की सर्जना हुई, जिनमें भावो, अनुभूतियों तथा मानसिक संवेदनाओं की प्रधान रूप से व्यंजना हुई है, ये भाव प्रधान महाकाव्य कहलाते हैं। जैसे–गीतगोविन्दम्।

३. अलङ्कार प्रधान महाकाव्य–

जिस काव्य में अलङ्कारों की प्रधानता हो, अथवा जो चित्र काव्य की कोटि में आता हो, वह अलङ्कार प्रधान काव्य होता है। अलङ्कृत शैली का विकटतम् रूप तब प्रकट होता है, जब कवि एक ही प्रबंध में दो–दो नायकों की कथा सुनाने को तत्पर हो जाता है तथा कभी–कभी तीन–तीन अर्थ भी एक ही श्लोक में आदि से अन्त तक निकलता है। जैसे– माघ कृत शिशुपालबधम्, भारवि का किरातार्जुनीयम, भट्टि का भट्टिकाव्य।

४. इतिहास प्रधान महाकाव्य–

जिन काव्यों की रचना इतिहास को केन्द्र में रखकर उसके इर्द–गिर्द ही होती है तथा जिसका कथानक ऐतिहासिक वंशावली से सम्बद्ध होता है, वह ऐतिहासिक या इतिहास प्रधान महाकाव्य होता है। जैसे–राजतरंगिणी, हर्षचरित आदि।

ऐतिहासिक महाकाव्यों के लेखन की परंपरा (उद्भव और विकास)–

लोगों में एक धारणा सी फैली हुई है कि भारत वर्ष के साहित्य में ऐतिहासिक ग्रंथों का अस्तित्व नहीं है। कुछ लोगों का तो यहां तक कहना है कि भारतीय लोग इतिहास से परिचित ही नहीं थे, परन्तु ये धारणायें नितांत निराधार हैं। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास वेद के समकक्ष माना जाता है। ऋक्–संहिता में ही इतिहास का पुट प्राप्त होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखने के समय अपनी अधीत विद्याओं में नारद मुनि ने "इतिहास–पुराण" को पंचम वेद बतलाया है। यास्क ने निरूक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रंथ तथा प्राचीन आचार्यों की कथाओं को "इतिहास समाचक्षते" ऐसा कहकर उद्धृत किया है। वेदार्थ के निरूपण करने वाले विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासिकों का भी एक अलग सम्प्रदाय था। इसका स्पष्ट परिचय निम्नवत् मिलता है– "इति ऐतिहासिकाः"। इतना ही नहीं, वेद के यथार्थ अर्थ को समझने के लिए इतिहास पुराण का अध्ययन आवश्यक बतलाया गया है। व्यास का स्पष्ट कथन है कि वेद का उपवृंहण इतिहास और पुराण के द्वारा होना चाहिए, क्योंकि इतिहास पुराण से अनभिज्ञ लोगों से वेद सदा भयभीत रहता है। राजशेखर ने उपवेदों में 'इतिहास वेद' को अन्यतम माना है। कौटिल्य की इतिहास कल्पना बड़ी विशाल, उदात्त एवं विस्तृत है। वे सबसे पहले 'इतिहास वेद' की गणना अर्थवेद के साथ करते हैं और इसके अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उद्धरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का अन्तर्भाव मानते हैं। इतने पुष्ट प्रमाणों के रहते हुए भारतीयों को इतिहास की कल्पना से शून्य मानना नितांत अनुचित है। हमारे प्राचीन साहित्य में इतिहास विषयक ग्रन्थ थे, जो अब धीरे–धीरे उपलब्ध हो रहे हैं परन्तु

पाश्चात्य इतिहास कल्पना और हमारी इतिहास कल्पना में एक अंतर है जिसे समझ लेना आवश्यक है। पाश्चात्य इतिहास घटना प्रधान है अर्थात् उसमें युद्ध आदि की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना मुख्य उद्देश्य रहता है, परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार घटना वैचित्र्य विशेष महत्व नहीं रखता। हमारे जीवन सुधार से उनका जहां तक लगाव है, वहीं तक हम उन्हें उपादेय समझते आये हैं।

भारतीय साहित्य में 'इतिहास' शब्द से प्रधानतया महाभारत का ही बोध होता है और यह बोध होना सर्वथा उचित है। महाभारत कौरवों और पाण्डवों के युगान्तकारी युद्ध का ही सच्चा इतिहास नहीं है, प्रत्युत् उसे हमारी संस्कृति, समाज, राजनीति तथा धर्म के प्रतिपादक इतिहास होने का गौरव प्राप्त है। यहां इतिहास के अन्तर्गत हम वाल्मीकीय रामायण को भी रखना उचित समझते हैं। प्रचलित परिपाटी के अनुसार इसे 'आदि महाकाव्य' मानना ही न्याय संगत होगा, परन्तु धार्मिक दृष्टि से उसका गौरव महाभारत से कमतर नहीं है। रामायण के द्वारा चित्रित भारतीय सभ्यता महाभारत से भी प्राचीन है। रामायण मर्यादा पुरूषोत्तम महाराज रामचन्द्र के जीवन चरित्र को चित्रित करने वाला अनुपम ग्रंथ है। रामराज्य की कल्पना जो भारतीय राजनीति में आदर्श मानी जाती है, महर्षि बाल्मीकि की ही देन है। यह जानना आवश्यक है कि रामायण तथा महाभारत की घटनायें ऐतिहासिक है। ये दोनों महत्वपूर्ण युद्ध इसी भारत वर्ष की सीमा के भीतर लड़े गये थे। उन्हें अन्तर्जगत के धर्म और अधर्म के द्वन्द्व युद्ध का प्रतीक मात्र मान लेना नितांत अनुचित है। वैदिक साहित्य में हम जिस धर्म का सिद्धान्त रूप में दर्शन करते हैं, उसी का व्यावहारिक रूप हमें इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। सच्ची बात तो यह है कि रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति के प्रकाश स्तम्भ हैं, जिनके

प्रकाश से हम अपने वैदिक धर्म के अनेक अंधकार से आवृत्त तथ्यों का साक्षात् करने में समर्थ होते हैं। ये दोनों इतिहास ग्रंथ है, परन्तु उस अर्थ में ये इतिहास ग्रन्थ नहीं है जिस अर्थ में समझा जाता है। इतिहास शब्द यहाँ अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इतिहास का शब्दार्थ ही है– इति–ह्–आस – इस तरह से निश्चय था। इस प्रकार से हमारे प्राचीन धर्म तथा हमारी सभ्यता में जो कुछ था उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन इन दोनों ग्रन्थों उपलब्ध होता है। इतिहास के द्वारा वेद के अर्थ का उपवृंहण होता है, इसका भी यही रहस्य है। वेद का अर्थ तो स्वयं सूक्ष्म ठहरा जिसे सूक्ष्म मति वाले लोग भली–भाँति समझ सकते हैं परन्तु इन इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों में हम उसी सूक्ष्म अर्थ का प्रतिपादन जन साधारण के लिए बोधगम्य, सरस तथा सरल भाषा में पाते हैं। इतिहास और पुराणों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं वे सिद्धान्त वेद के ही हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। परन्तु हमें समझने योग्य भाषा में लिखे जाने के कारण ये हमारे हृदय को अधिक स्पर्श करते हैं। इस तरह वैदिक सिद्धान्तों के बहुल प्रचारक होने के कारण ही धार्मिक दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्व है।

व्यास ने इतिहास की महत्ता बतलाते हुए इसी बात की ओर संकेत किया है–

इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपवृंह्यते्।
विभेत् यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

इतिहास के इसी व्यापक अर्थ का समर्थन राजशेखर की काव्य मीमांसा से भी होता है। राजशेखर का कहना है कि इतिहास दो प्रकार का होता है–

१. परिक्रिया २. पुराकल्प।

'परिक्रिया' से अभिप्राय उस इतिहास से है जिसका नायक एक ही व्यक्ति होता है, जैसे– रामायण।

'पुराकल्प' अनेक नायक वाले इतिहास ग्रन्थ का सूचक है, जैसे– महाभारत।

राजशेखर के अनुसार भी ये दोनों ग्रन्थरत्न 'इतिहास' के ही अन्तर्गत आते हैं। राजशेखर का कथन 'काव्यमीमांसा' में इस प्रकार है–

परिक्रिया पुराकल्पः इतिहास गतिर्द्विधा।
स्यादेक–नायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका।।

वस्तुतः तिथिक्रम से इतिहास लेखन का प्रारम्भ अशोक के समय से उसके शिलालेखों और अभिलेखों से होता है। तत्पश्चात् ऐतिहासिक विवरण विभिन्न शिलालेखों और अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से गुप्तकाल ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करने में सर्वप्रथम है। ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण शिलालेख इस प्रकार हैं।

गिरिनार शिलालेख (१५० ई०), नासिक शिलालेख (१४६ ई०), हरिषेण की प्रयाग प्रंशस्ति (३५० ई०), स्कन्दगुप्त का गिरिनार शिलालेख (४५७ ई०), वत्सभट्टि की मंदसौर प्रशस्ति (४७३ ई०) आदि। इसमें हरिषेण की कृति प्रयाग प्रशस्ति आदि में ऐतिहासिक तथ्यों के अतिरिक्त काव्यात्मकता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

ऐतिहासिक काव्यकार के रूप में अश्वघोष अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति को लेकर काव्य की रचना की है। अश्वघोष का

'बुद्ध चरित' महात्मा बुद्ध के जीवन को लक्ष्य में रखकर लिखा गया है।

महाकवि बाणभट्ट ने महाराज हर्ष के जीवन को लेकर 'हर्षचरित' की रचना की है। इसमें प्रारम्भ में कवि ने अपने वंश का तथा अपना जीवनवृत्त दिया है। इसमे हर्ष के पिता प्रभाकर वर्धन से लेकर राज्यश्री की प्राप्ति तक का वर्णन है। इसमें वर्णित ऐतिहासिक तथ्य अन्य साधनों से भी प्रमाणित हो चुके हैं। इसमें भी ऐतिहासिक तथ्यों के वर्णन की अपेक्षा कवित्व की प्रधानता है।

वाक्पति राज (७३० ई० के लगभग) ने 'गउडवहो' (गौड़वधः) ऐतिहासिक काव्य महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा है। ये कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित कवि थे, ये भवभूति के समकालीन थे। कल्हण ने वाक्पति राज और भवभूति को समकालीन तथा 'यशोवर्मा का आश्रित कवि बताया है।

कवि वाक्पतिराज श्री भव भूत्यादिसेवितः।
जितो भयौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवरिताम्।।[1]

यह अपूर्ण ग्रंथ है। सम्भवतः यशोवर्मा की मृत्यु के कारण लेखक ने इसे अधूरा छोड़ दिया। लेखक ने अपने काव्य के श्लोक ६६ में 'महुमन विजय' नामक अपनी एक और कृति का उल्लेख किया है किन्तु यह अप्राप्य है। इसमें ऐतिहासिक महत्त्व की बातों का उल्लेख कम है और प्राकृतिक वर्णन आदि विषयों की अधिकता है।

श्री टी० गणपति शास्त्री ने १९२५ ई० में इस ऐतिहासिक ग्रंथ का पता

---

१. राजतरंगिणी ४–१४४

लगाया था। इस अज्ञात नामालेखक की रचना की ऐतिहासिकता का निर्णय सर्वप्रथम डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने किया था। इसकी रचना ८०० ई० के लगभग सिद्ध की गयी है। यह महायान बौद्ध सम्प्रदाय का ग्रंथ है। इसमें लगभग ७०० ई० पूर्व से लेकर ७७० ई० तक के सम्राटों का इतिहास दिया गया है।

पद्मगुप्त का समय १००५ ई० के लगभग है, ये धारा के राजा मुन्ज और इनके पुत्र सिन्धुराज (नवसाहसांक) के आश्रित कवि थे। इनका ही नाम परिमल या कालिदास परिमल था। इन्होनें १८ सर्गों में नवसाहसाङ्क चरित नामक ऐतिहासिक काव्य लिखा है। इसमें मालवा के राजा सिन्धुराज नवसाहसाङ्क का चरित वर्णित है। इसमें इतिहास और कवित्व तथा कल्पना का सम्मिश्रण है। अत एव यह ग्रन्थ ऐतिहासिकता की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं होता। इसमें कवित्व की छटा यथा स्थान अवश्य दृष्टिगोचर होती है।

इसके पश्चात् महाकवि बिल्हण विरचित विक्रमाङ्कदेवचरितम् तथा इसके पश्चात् कल्हण विरचित राजतरंगिणी का स्थान आता है। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों मे पर्याप्त ऐतिहासिक साम्रग्री उपलब्ध है तथा ऐतिहासिक महाकाव्यों के विकास की परम्परा में ये मील का पत्थर सिद्ध हुए हैं। जहां पर विक्रमाङ्कदेवचरितम् इतिहास और महाकाव्य के सुन्दर समन्वय की झाँकी प्रस्तुत करता है, वहीं पर कल्हण की राजतरंगिणी को प्रथम ऐतिहासिक ग्रंथ होने का गौरव प्राप्त है।

एतदनंतर ऐतिहासिक लेखन की परम्परा तो चलती रही जिसके अन्तर्गत कल्हण की राजतरंगिणी, महाकवि शंभु की राजेन्द्रकर्णपूर, जैन मुनि हेमचन्द्राचार्य का कुमारपाल चरित, जल्हण का सोमपाल विजय, जयानक का पृथ्वीराज–विजय,

सन्ध्याकर नन्दी का रामपाल चरित आदि ग्रंथ आते हैं। किन्तु विक्रमाङ्कदेव एवं राजतरंगिणी ये ऐसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक महाकाव्य थे कि इनके विस्तृत महत्व के समक्ष अन्य ग्रंथों का महत्व क्षीण सा हो गया। यही कारण है कि विक्रमाङ्कदेवचरितम् एवं राजतरंगिणी ऐतिहासिक महाकाव्य के रूप में सर्व प्रसिद्ध हुए।

ऐतिहासिक महाकाव्यों का वैशिष्ट्य–

भारतवर्ष में ऐतिहासिक काव्यों का प्रायः अभाव है। पाश्चात्य विद्वान् ऐतिहासिक ग्रंथ से जो भाव लेते हैं, वैसे काव्यों का संस्कृत साहित्य में अभाव ही समझना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय में अनेक विचार व्यक्त किये हैं। इनमें से कुछ विचार युक्तिसंगत है और कुछ अनर्गल प्रलाप ही मानने चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों ने ऐसे इतिहास ग्रंथों का कारण बताया है कि– भारतवर्ष में भाग्यवाद की प्रबलता, दैवी शक्तियों पर विश्वास, कर्मफल की अनिवार्यता और संसार की अनित्यता आदि है। वस्तुतः ये कारण न होकर कारणाभास ही है। वास्तविकता यह है कि भारतीय विद्वान् इतिहास के तिथिक्रम और विशेष घटनाओं को उतना महत्व नहीं देते जितना उसके कार्य कलाप, वैयक्तिक जीवन की उत्कृष्टता, नैतिक आदर्श व राष्ट्रीय उन्नति में योगदान को। इस दृष्टि से राम, कृष्ण, बुद्ध, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि के जीवन की तिथियों को महत्व न देकर उनकी भावात्मक विशेषताओं को विशेष रूप से प्रकट किया जाता है। यही कारण है कि हम तिथिक्रम के अनुसार राजाओं, सम्राटों, कवियों और लेखकों आदि का विस्तृत्त विवरण नहीं पाते।

खेद की बात है कि पाश्चात्य विद्वान् जितना वाह्य शरीर के चित्रण पर बल

देते हैं, उतना आंतरिक भावों के चित्रण पर नहीं अर्थात् आंतरिक सौन्दर्य पर बल नहीं देते। जीवन का महत्व किसी वर्ष या तिथि पर उतना निर्भर नहीं है, जितना उसके कार्य कलाप और नैतिक उत्कर्ष पर है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की विचारधारा में मौलिक अन्तर है।

काव्यात्मक ग्रंथ के रूप में रामायण और महाभारत का स्थान सर्वोपरि है। इनमें मात्र कथानक का उल्लेख है और तिथिक्रम का पूर्णतया अभाव है। इसके पश्चात् पुराणों को ऐतिहासिक ग्रंथों की कोटि में रखा जा सकता है। इनमें वंशावलियाँ आदि ही दी गयी हैं। प्रत्येक राजा का विशद वर्णन इनमें भी अप्राप्य है, किन्तु तिथियों का इसमें भी अभाव है। काव्य के रूप में अश्वघोष का 'बुद्धचरित' महाकाव्य विशेष उल्लेखनीय है। इसके पश्चात् बाण का 'हर्षचरित' व कल्हण की 'राजतरंगिणी' विशेष महत्वपूर्ण है।

रामायण, महाभारत के वर्णन प्रसंग में इतिहास की भारतीय कल्पना का कुछ वर्णन ऊपर किया गया है। इतिहास का आश्रय लेकर काव्य लेखन की परिपाटी संस्कृत साहित्य में नहीं है। कवियों में अपने आश्रयदाता की कीर्ति अक्षुण्ण बनाये रखने के विचार से उनका जीवन चरित रोचक भाषा में लिखने का उद्योग तो किया गया है, परन्तु उनका यह उद्योग शुद्ध साहित्यिक कोटि में ही आता है, ऐतिहासिक कोटि में नहीं, क्योंकि वे अपने आश्रयदाता के विषय में अपेक्षित ऐतिहासिक सामग्री भी देने का प्रयत्न नहीं करते। गुप्तकाल के कवि 'वत्सभट्टि' ने कतिपय प्रशस्तियाँ ही प्रस्तुत की हैं। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' लिखकर ऐतिहासिक काव्य के निर्माण का प्रथम अवतार किया, परन्तु महाकाव्य की दृष्टि से 'पद्मगुप्त परिमल' का काव्य प्रथम ऐतिहासिक महाकाव्य कहा जा सकता है।

द्वितीय अध्याय

विक्रमाङ्कदेवचरितम्

इस विक्रमाङ्कदेवचरितम् महाकाव्य के महानायक चालुक्यवंशीय विक्रमादित्य षष्ठ हैं जिनके चरित का एवं उनके वश का विस्तृत वर्णन इस महाकाव्य में हुआ है। चालुक्यराज–अय्यणवंशचरित[1] काव्य के अनुसार चालुक्य वंश की उत्पत्ति विष्णु से मानी गई है। क्रम से अनेक राजाओ के होने के बाद विजयादित्य नामक राजा हुआ जिसने अपने भाई चित्रकण्ठ से कलह होने के कारण अयोध्या को छोड़ दिया था। विक्रमाङ्कदेव में इस तथ्य के स्वयं प्रमाण मिलते हैं–

श्रूयतां सावधानेन चेतसेमं पुरातनम्।
चालुक्यकुल जातानामैतिष्यं महदद्भुतम्।।४७।।
विष्णोरंशात्समुद्भूतो वंशोयं वैष्णवो भुवि।
तद्वंशजानां नामानि पुण्यानि निगदामि वः।।४८।।
श्रीधाग्नो पुरुषोत्तमस्य महतो नारायणस्य प्रभो–
र्नाभीयङ्करुहाद्बभूव जगतः स्रष्टा स्वयम्भूस्ततः।
जज्ञे मानससूनुरत्रिरिति यस्तस्मान्मुतेरत्रितः
सोमो वंशकरः सुधांशुरुदितः श्रीकण्ठचूड़ामणिः।।४९।।
तस्मादासीत्सुधासूतेर्बुधो बुधनुतस्ततः।
ततः पुरूरवा नाम चक्रवर्ती नृपोत्तमः।।५०।।

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम् भूमिका–विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज

तस्मादायुरायुषोथ नहुषः पुण्यपूरूष. ।

ततो ययातिस्तस्माच्च पुरूरित्यभिधानवान् ।।५१।।

जनमेजयसंज्ञश्च प्राचीशस्तत्सुवस्तथा ।

तस्माज्जातः सैन्ययातिस्ततो ह्यपतिस्ततः ।।५२।।

सार्वभौमस्ततो जातो जयसेनः प्रतापवान् ।

महाभौमस्तत्तो देशानक–क्रोधाननौ क्रमात् ।।५३।।

ततो देवकिरित्याख्यस्ततः कुमुदनायकः ।

तस्मादृक्षक संज्ञश्च ततो मतिवरः पुमान् ।।५४।।

कात्यायनस्ततो नीलदुष्यन्तभरताः क्रमात् ।

भरताद्धर्मशीलाच्च भूमन्युस्वत्सुतोऽभवत् ।।५५।।

तस्मात्सुहोत्रस्तज्जश्च हस्तीः तस्माद्विरोचनः ।

तस्मादजामिल इति तस्य संवरणः सुतः ।।५६।।

तस्मात्सुधन्वा जातोऽयं तपत्या सूर्यकन्यया ।

तस्मात्परीक्षितस्तस्माद्भीमसेनः प्रतापवान् ।।५७।।

ततः प्रदीपनस्तस्माच्छान्तनुः कीर्तिवर्धनः ।

ततो विचित्रवीर्याच्च पाण्डुराजस्ततोऽर्जुनः ।।५८।।

ततोऽभिमन्युस्तस्माच्च परीक्षित इति श्रुतः ।

जनमेजयनामा च तस्मात्तस्माच्च क्षेमकः ।।५९।।

नरवाहनसंज्ञोऽभूद्भारते भूतिमाँस्ततः ।

ततः शतानीक इति तस्मादुदयनो नृपः।।६०।।

यशः पुञ्जप्रभावेण यस्य राज्ञः प्रभावितम्।

भारतं भारतं जातं देवदानवपूजितम्।।६१।।

एकोनषष्टी राजानोऽभवन्नुदयनात्परम्।

ततस्तु विजयादित्यः षष्टी संख्यो नृपोऽभवत्।।६२।।

श्री रामचन्द्राद्भुतराजधानीं पुरीमयोध्यां सुसिषेविरे नृपाः।

स चित्रकंठस्य निशम्य बन्धोस्तत्त्याज शब्दान्निजजन्मभूमिम्।।६३।।

इति श्री चालुक्यराज–अय्यणवंशचरिते काव्ये वंशपरिचये विष्णोरंशभूत–चन्द्रवंशीयत्व वर्णनं नाम प्रथम सर्गः।

महाकवि बिल्हण ने अपने महाकाव्य के प्रथम सर्ग में लिखा है कि ब्रह्मा ने इन्द्र की विशिष्ट प्रार्थना से प्रसन्न होकर पृथ्वी पर होने वाले अन्यायों को दूर करने के लिए एक प्रतापी राजा की आवश्यकता समझकर सायंकाल–सन्ध्या करते समय अर्ध्य देने के लिए जल से पूरित अपनी अंजुली पर द्वष्टिपात किया जिससे उसमें से एक वीर उत्पन्न हुआ। ब्रह्माजी की अंजुली से उत्पन्न होने के सम्बन्ध में अनेक शिलालेख[1] भी मिलते हैं।

ऐतिहासिकों के कथनानुसार गुप्त साम्राज्य के समाप्त हो जाने पर चालुक्य साम्राज्य का प्रादुर्भाव चार शाखाओं में हुआ–

१. वातापी के चालुक्य   २. वेंगी के चालुक्य

---

१. अनेक शिलालेख–वडनगर का ११५१ ई० का, चित्तौड़ के किले का तथा खम्भात के कुन्तनाथ के मन्दिर का शिलालेख।

३. कल्याणी के चालुक्य तथा ४. गुर्जर के चालुक्य।

श्री विक्रमादित्य (षष्ठ) कल्याणी चालुक्य वंश में उत्पन्न हुए थे। इस वंश के प्रायः सभी राजा लोग वीर, विद्यानुरागी, उदार, बड़े दानी तथा कट्टर सनातन धर्मावलम्बी आदि सद्गुणों से विभूषित थे। यह बात विक्रमाङ्कदेवचरितम् महाकाव्य से एवं अनेक उपलब्ध ताम्रपत्र तथा शिलालेखों से सिद्ध होती है।

कल्याणी के चालुक्य वंश का साम्राज्य दक्षिण भारत में था यह प्रसिद्ध है परन्तु सबसे पूर्व इस वंश का कौन राजा दक्षिण भारत में गया इसका पता न तो भारत का प्राचीन इतिहास लिखने वालों को लगा, न ही कविराज बिल्हण को था। महाकवि बिल्हण ने अपने महाकाव्य में 'इस' चालुक्य वंश के बारे में "विजय की इच्छा रखने वाले कुछ राजा लोग सम्पूर्ण जगत् को जीतकर विलासितों के रस में पड़कर, पान की बँवर से सटकर जहाँ सुपाड़ी के पेड़ लगे हैं ऐसी दक्षिण दिशा में राज्य करने लगे"[१]– इतना ही बतलाया है।

विक्रमादित्य (षष्ठ) का वर्णन करने के ध्येय से लिखे गये इस महाकाव्य में– 'कौन राजा सर्वप्रथम दक्षिण में गया', इसका वर्णन न करना किसी प्रकार दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता। किन्तु ऐतिहासिक विद्वानों का इस सम्बन्ध में कुछ न लिखना उनके शोध में कुछ शिथिलता अवश्य प्रकट करता है।

चालुक्य वंश का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण–

चालुक्य राज–अय्यणवंशचरित नामक हस्तलिखित काव्य में इसका समय

---

१. चालुक्य राज–अय्यणवंशचरितम् २/१–४२ तक

निर्देश के साथ विस्तृत वर्णन दिया गया है। तद्नुसार सबसे पूर्व अयोध्या से निकलकर दक्षिण भारत में जाने वाला विजयादित्य नाम का व्यक्ति था। वह अयोध्या के राजा चित्रकण्ठ का छोटा भाई था। अपने भाई के कलह से दुःखी होकर वह अयोध्या छोड़कर अपनी पत्नी आदि परिवार तथा इष्ट मित्रों के साथ शक १४३ में दक्षिण में नर्मदा के तट पर स्थित चावली नामक ग्राम में आया। यही कल्याणी के चालुक्य वंश का मूल पुरूष है।

शक् १४३ में दक्षिण भारत में पल्लव वंशीय त्रिलोचन नामक राजा का नर्मदा के दक्षिण में बड़ा सुसंगठित राज्य था। इस राजा का भी इतिहास ग्रंथों में कुछ पता नहीं चलता। चालुक्य वंशीय विक्रमादित्य नर्मदा तट पर चावली ग्राम में माहेश्वर मंदिर के पास थोड़े दिन रहकर नर्मदा पार कर अजन्ता में आया। वहाँ दान–मानादि से ब्राह्मणों को संतुष्ट कर थोड़े समय तक निवास किया। जब पल्लव–वंशीय राजा त्रिलोचन की शक्ति तथा पुरूषार्थ की सूचना विजयादित्य को मिली तब वीर होने के कारण उसने दुर्भाग्य से त्रिलोचन राजा के राज्य पर आक्रमण कर दिया। घोर संग्राम में विजयादित्य मारा गया और उसकी गर्भवती रानी को लेकर रानी का भाई भागकर मुडिबेडू नामक ग्राम में सोमयाजी विष्णुभट्ट[1] नामक तपस्वी ब्राह्मण के शरण में आया। विष्णुभट्ट ने उनको शरण दी। कुछ काल के

---

१. यदि यह कल्पना किया जाय कि युद्ध में राजा विजयादित्य के मारे जाने पर उनकी गर्भवती रानी का विष्णुभट्ट की शरण में जाना और वहाँ उसे पुत्र होना यह प्राचीन सत्य घटना कविराज दण्डी के समय तक दक्षिण भारत में प्रसिद्ध थी और दण्डी कवि के दक्षिण भारत के होने के कारण उन्होनें इस सत्य घटना के आधार पर ही अपने दशकुमारचरितम् नामक गद्यकाव्य का प्रारम्भ किया, तो अनुचित न होगा। प्रायः कवि लोग कुछ अपूर्व प्राचीन घटना के आधार पर ही नूतन ग्रन्थ रचना में प्रवृत्त होते थे।

अनन्तर रानी को बड़ा तेजस्वी पुत्र हुआ जिसका नाम विष्णु रखा गया। यही बालक आगे चलकर विष्णुवर्धन नाम का एक प्रतापी राजा हुआ। इसने कदम्ब और गंङ्ग वंश के राजाओं को जीत कर कई हजार ग्रामों का एक साम्राज्य नर्मदा से सेतुबंध रामेश्वर तक स्थापित किया। उसके उत्कट पराक्रम से प्रभावित होकर काञ्ची के पल्लव वंशीय राजा ने अपनी कन्या से इसका विवाह बड़े ठाट–बाट से कर दिया। इसका पुत्र विजयादित्य (द्वितीय) हुआ। विजयादित्य (द्वितीय) का पुत्र जयसिंह हुआ जिसकी उपाधियां बल्लभेन्द्र आदि थी।

प्राचीन चालुक्य वंश के राजाओं की राजधानी अयोध्या थी। इस सम्बन्ध में कविराज बिल्हण[1] तथा अय्यणवंशचरित[2] काव्य का एकमत है। किन्तु पूर्ववर्ती राजाओं के नामों में बड़ा ही भेद है। बिल्हण कवि ने ब्रह्मा की अंजुली से उत्पन्न वीर का वर्णन कर उस वंश में उत्पन्न हारीत[3] और मानव्य नामक राजाओं का वर्णन किया है किन्तु अय्यणवंशचरित काव्य में इन श्लोकों में इन दोनों राजाओं का नाम भी नहीं है।

हारीत और मानव्य ये दोनों शब्द क्रम से हरितम् तथा मानव्यस् इन' गोत्रपरक शब्दों से सम्बन्ध रखते हैं। चालुक्यवंशीय राजा लोग अपने कुलगुरू का

---

१. प्रसाध्य तं रावणमध्युवास यां मेथिलीशः कुलराजधानीम्।
ते क्षत्रियास्तामवदात कीर्तिं पुरीमयोध्यां विदधुर्निवासम्।।
विक्रम० (प्रथम सर्ग ६३ श्लोक)

२. श्री रामचन्द्रद्भुत राजधानी पुरीमयोध्यां सुसिषेविरे नृपाः
अय्यणवंशचरित् (प्रथम सर्ग ६३ श्लोक)

३. विपक्षवीराद्भुत कीर्ति हारीत इत्यादि पुमान्स यत्र।
मानव्य नामा च वभूव मानी मानत्ययं म कृतवानरोणाम्।।
विक्रम० (प्रथम सर्ग ५८ श्लोक)

गोत्र ही अपना गोत्र मानते थे। मानव्य क सम्बन्ध में प्राचीन ताम्रपत्र[1] तथा शिलालेखों से सिद्ध हो जाता है, कि चालुक्य वश के राजा मानव्य गोत्री थे। सम्भव है कि मानव्यस् गोत्र के कुलगुरू के पूर्व के कुलगुरू हरितस् गोत्री होने से पूर्ववर्ती राजा अपने को हारीत गोत्री मानते थे।

मानव्य गोत्री कुलगुरू के वंश का नाश हो जाने पर भारद्वाज गोत्री कुलगुरू के कारण इस वंश का गोत्र 'भारद्वाज' गोत्र हो गया यह बात चालुक्य वंशीय श्री सरदार ए०ए० पाटील, विश्राम प्राप्त कलेक्टर, दमोह, म०प्र० से विदित हुई। इस कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि हारीत और मानव्य ये दोनों ऐतिहासिक राजा नहीं थे जैसा कि बिल्हण ने अपने महाकाव्य में दर्शाया है। ये दोनों चालुक्य वंशीय राजाओं के गोत्र के नाम थे और ताम्रपत्र तथा शिलालेखों में इन शब्दों को देखकर, इन्हें चालुक्य वंशीय राजा समझ कवि राज बिल्हण ने इन दो पूर्ववर्ती राजाओं का उल्लेख कर दिया है।

कविराज बिल्हण ने 'हारीत' और 'मानव्य' राजाओं का संक्षिप्त वर्णन कर अपने महाकाव्य में पूर्ववर्ती राजाओं को छोड़कर राजा 'तैलप द्वितीय' से वर्णन प्रारम्भ किया है। 'विक्रमादित्य षष्ठ' का वर्णन करने में प्रवृत्त कविराज बिल्हण का पांच पीढ़ी पूर्व से चालुक्य वंशीय राजाओं का वर्णन करना अनुचित नहीं कहा जा सकता। उनका मुख्य ध्येय चालुक्यवंश का इतिहास न लिखकर 'विक्रमादित्य षष्ठ' का वर्णन करना ही था, परन्तु चालुक्य वंश का प्राचीन इतिहास लिखने वाले डॉ० आर०जी० भंडारकर, श्री कृष्ण स्वामी ऐयंगर, सदृश ऐतिहासिक विद्वानों का प्राचीन

---

१. परिशिष्टम्

चालुक्य वंशीय राजाओं का उल्लेख न करना अटपटा सा लगता है। संभवतः इन प्राचीन राजाओं के संदर्भ में अनेक ताम्रपत्रों व शिलालेखों के रहने पर भी उनका पता न लगाकर उन्होनें उन प्राचीन राजाओं का वर्णन किया है। 'महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर ओझा' ने अपने 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास' नामक पुस्तक में ताम्रपत्रों तथा शिलालेखों के आधार पर चालुक्यवंशीय प्राचीन राजाओं का वर्णन किया है जो 'अय्यणवंश चरित' काव्य से मिलता है।

यथार्थ में प्राचीन कल्याणी के चालुक्य वंश का इतिहास, जो प्रकाशित है वह अपूर्ण है। इसकी पूर्ति करने में कोई उत्साही, धनी, ऐतिहासिक ही सफल हो सकता है। प्राचीन इतिहास के विद्वानों को अभी इसका पता नहीं है। यदि इस भूमिका को तथा द्वितीय भाग की भूमिका व परिशिष्टों को या 'चालुक्यराज अय्यणवंशचरितम्' काव्य के प्रकाशित होने पर उसे पढ़ कर कोई प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक इस ओर प्रवृत्त हो तो उसे सफलता व यश प्राप्त हो सकता है।[1]

भारतीय इतिहास में विक्रमादित्य/विक्रमाङ्कदेव–

इतिहास से प्रमाणित होता है कि विक्रमादित्य उपाधि अनेक सम्राटों ने धारण की, यथा चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०–४१४ ई०), उसके पुत्र स्कंदगुप्त (४५५–४६७ ई०), कश्मीर का विक्रमादित्य (५०० ई०) और अनेक चालुक्यों ने, यथा विक्रमादित्य प्रथम (६५५–६८० ई०), विक्रमादित्य द्वितीय (७३३–७४६ ई०), त्रिभुवन मल्ल (१००६–१०१६ ई०) तथा विक्रमादित्य अथवा विक्रमाङ्क (१०७६–११२६ ई०)।

इन राजाओं में तृतीय गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय, जिसने शकक्षत्रपों को

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम् भूमिका–विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज

परास्त किया, उज्जैन जिसकी राजधानी थी और जिसका शासनकाल बौद्धिक उपलब्धियों तथा चतुर्दिक समृद्धि के कारण प्रसिद्ध है और जिसके काल में संभवतः कालिदास भी हुए थे, उसी को मूल राजा मानना उचित है। बाद में विक्रमादित्य को लेकर अनेक दंत कथायें प्रचलित हो गयी।

'विक्रमादित्य' एक उपाधि थी जिसे अनेक प्राचीन भारतीय राजाओं ने धारण किया। देव कथाओं के अनुसार विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा थे, जिसके दरबार में नवरत्न रहते थे। इनमें 'कालिदास' भी थे। कहा जाता है कि वह बड़ा पराक्रमी राजा था, और उसने शकों को परास्त किया था। ई० पूर्व ५८–५७ में प्रारम्भ 'विक्रमसंवत' राजा विक्रमादित्य का चलाया हुआ माना जाता है।

परन्तु इतिहास में ई० पूर्व प्रथम शदी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी भारत में शासन करने वाले ऐसे किसी पराक्रमी राजा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता जिसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की हो।

कल्याणी का एक चालुक्य राजा (१०७६–११२६ ई०) जो पराक्रमी, योद्धा तथा साहित्य का संरक्षक था, उसके दरबारी कवि 'बिल्हण' ने 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' के नाम से उसकी जीवनी लिखी है। प्रसिद्ध धर्मशास्त्रकार 'मिताक्षरा' के रचयिता विज्ञानेश्वर को भी उसका संरक्षण प्राप्त था। उसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी।[१]

---

१. **भारतीय इतिहास कोष ('ए डिक्शनरी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री' का हिन्दी रूपान्तर) पृ०४३१**

सामान्य परिचय–

भारतीय मनीषा विक्रमाङ्कदेवचरितम् को ऐतिहासिक महाकाव्य मानती है, क्योंकि कल्याणी के चालुक्यवंशीय राजाओं का इतिहास जानने के लिए यह महाकाव्य परमोपयोगी है। इसमें विक्रमादित्य के पिता 'आहवमल्ल' के पराक्रमों का वर्णन, विक्रमादित्य के राजकुमार होते हुए महान् विजय करना, शत्रुओं के साथ घोर युद्ध आदि प्रमुख ऐतिहासिक प्रकरण है। अत एव ऐसी ऐतिहासिक सूचना देने के आधार पर वाक्पतिराज का 'गउडवहो'; पद्मगुप्तपरिमल का 'नवसाहसाङ्क चरित'; कल्हण की 'राजतरंगिणी; हेमचन्द्र का 'कुमारपाल चरित'; सोमेश्वर की 'कीर्ति कौमुदी'; अरिसिंह का 'सुकृत–संकीर्तन'; बालचन्द्रसूरि का 'बसन्तबिलास'; जयानक का 'पृथ्वीराज विजय'; संध्याक्ररनन्दी का 'रामपाल चरित', नयनचन्द्रसूरि का 'हम्मीर महाकाव्य' आदि ऐतिहासिक महाकाव्य माने जाने हैं, उसी प्रकार इतिहास के तथ्यों से सामञ्जस्य स्थापित करने में योगदान करने के कारण हम प्रस्तुत महाकाव्य को भी ऐतिहासिक कह सकते हैं।

१८ सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य के प्रथम सात सर्गों में अधिकांश ऐतिहासिक सामग्री ही है किंतु ८वें सर्ग से राजकुमारी चन्दलदेवी का नायक के साथ परिणय प्रबन्ध आरंभ होता है। बसंत ऋतु का श्रृंगारिक वर्णन, नायिका सौन्दर्य वर्णन, विवाह व कामक्रीड़ाओं का वर्णन ११वें सर्ग तक मिलता है। इसके बाद भी जलक्रीड़ा, मृगया आदि का वर्णन १२वें, १३वें व १६वें सर्ग में है। १४वें व १५वें सर्ग में कौटुम्बिक कलह तथा १७वें सर्ग में पुत्रोत्पत्ति, विक्रमपुर नगर निर्माण व विष्णु के कमला विलास मंदिर निर्माण के अतिरिक्त चोलों

की पराजय का वृन्तान्त है। १८वें सर्ग में बिल्हण ने स्वकुटुम्ब वर्णन के साथ–साथ अपनी भारत यात्रा का वृत्तान्त लिखा है।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् का महाकाव्यत्व–

यह महाकाव्य तत्कालीन संस्कृत काव्यशास्त्र के महाकाव्य संबंधी मानदण्डों के अनुसार लिखा गया है। उदाहरणार्थ –

१. आठ या आठ से अधिक नातिन्यून नातिविस्तीर्ण सर्गों से युक्त होना। इस महाकाव्य में अष्टादश सर्ग पाये जाते हैं जो नातिन्यून है और न अत्यधिक विस्तृत ही है।

२. प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्दों का परिवर्तन होना आवश्यक है। विक्रमाङ्कदेवचरितम्.का प्रत्येक सर्ग एक छन्द में बद्ध है, केवल अन्तिम श्लोक में छन्द परिवर्तित है।

३. धीरोदात्तत्व से युक्त किसी दिव्य अथवा क्षत्रिय कुलोद्भव राजा का नायक होना आवश्यक है। इस महाकाव्य का नायक क्षत्रिय कुलोत्पन्न 'विक्रमाङ्कदेव' है जो धीरोदात्त नायक के सभी गुणों से विभूषित है।

४. शांत, वीर व श्रृंगार रसों में से किसी एक का अंगीरस तथा अन्य रसों का समावेश होना आवश्यक है। इस महाकाव्य का अंगीरस वीर तथा श्रृंगार आदि अन्य समस्त रसों को उसके अंग के रूप में चित्रित किया गया है।

५. कथानक ऐतिहासिक अथवा लोक प्रसिद्ध होना चाहिए। इस महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक है। विक्रमाङ्कदेव इतिहास में प्रसिद्ध वीर हैं। उससे

संबद्ध कथानक भी ऐतिहासिक कथानक है।

६. महाकाव्य में नाटक की पञ्चसंधियों का विधान भी होना चाहिए। इस महाकाव्य में यथा स्थान पञ्चसंधियों का सन्निवेश किया गया है। यथा प्रथम सर्ग से तृतीय सर्ग के कथानक में बीज तथा प्रारम्भावस्था के कारण 'मुखसंधि', चतुर्थ सर्ग का कथानक 'प्रतिमुख संधि', पञ्चम सर्ग के कथानक में 'गर्भसंधि' तथा 'विमर्श संधि' और सप्तदश सर्ग के उपसंहार में 'निर्वहण संधि' के दर्शन होते हैं।

७. चतुर्वर्ग का प्रयोजन भी होना चाहिए। इस महाकाव्य के लेखक को धन प्राप्ति तो हुई ही थी, उसके द्वारा ही धर्म काम तथा मोक्ष की प्राप्ति सुलभ है। इस प्रकार चतुर्वर्ग का विधान भी किया गया है।

८. काव्य के प्रारम्भ में, मांगलिक श्लोक का विधान होना चाहिए। महाकाव्य के प्रारम्भ में 'नमस्कारात्मक मंगल' का विधान किया गया है।

९. महाकाव्य के मध्य में आवश्यकतानुसार बसन्त आदि ऋतुओं, युद्धों, यात्राओं, संध्या, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि का वर्णन होना चाहिए। इस महाकाव्य के बीच में आवश्यकतानुसार ऋतुओं, युद्धों, यात्राओं, संध्या, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि का वर्णन किया गया है।

१०. मुख्य घटना चरित्र अथवा मुख्यपात्र के आधार पर काव्य का नामकरण होना चाहिए। इस महाकाव्य का नामकरण नायक विक्रमाङ्कदेव के नाम के आधार पर किया गया है।

इस प्रकार भारतीय काव्य शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित सभी लक्षण इस महाकाव्य में पाये जाते हैं। पाश्चात्य काव्य–शास्त्रों की दृष्टि से भी चरित्र, शैली, उद्देश्य की उदात्तता तथा आकार की महत्ता आदि सभी विशेषतायें इस महाकाव्य में पायी जाती हैं।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् का कथानक

दक्षिणापथ के इतिहास में चालुक्यों का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा है। इन चालुक्यों के नाम से चार राजवंशों का उल्लेख मिलता है–

१. वातापी (बादामी) के चालुक्य,

२. वेंगी के चालुक्य,

३. कल्याणी के चालुक्य,

४. गुर्जर देश के चालुक्य।

प्रकृत काव्य में कल्याणी के चालुक्यवंश में जन्म लेने वाले विक्रमादित्य षष्ठ को नायक बनाया गया है। कर्नाटक प्रान्त का प्राचीन नगर कल्याणी इनकी राजधानी थी। इसी वंश में तैलप (९७३–९९७ ई०) नामक राजा ने राष्ट्रकूटों को जीतकर चालुक्य राज्यलक्ष्मी को बढ़ाया। तैलप के पश्चात् सत्याश्रय (९९७–१००८ ई०) ने शासन किया, उसके बाद विक्रमादित्य पंचम (१००८–१०१४ ई०) तथा अय्यण (१०१५ ई०) के पश्चात् जयसिंह द्वितीय (१०१५–१०४३ ई०) ने राज्य किया। तत्पश्चात् जयसिंह के पुत्र सोमेश्वर प्रथम त्रैलोक्यमल्ल (१०४३–६८ ई०) ने शासन किया। त्रैलोक्यमल्ल आहवमल्ल के नाम से भी प्रसिद्ध था। इस प्रतापी राजा ने

चोल राजाओं को अनेक बार जीता। मालवा पर आक्रमण करके भोजराज को उसकी राजधानी धारा से भगाया। डाहल नरेश कर्ण को जीता, चोल राजधानी कांची को अधीनस्थ कर लिया तथा कल्याणी में अपनी राजधानी स्थिर की।

आहवमल्ल के तीन पुत्र हुए उनमें सोमेश्वर ज्येष्ठ था और विक्रमाङ्कदेव मध्यम तथा जयसिंह कनिष्ठ था। पिता के समक्ष ही विक्रमादित्य ने अनेक युद्ध किये और अपनी वीरता से सबको प्रभावित किया। यह देखकर पिता ने उसको युवराज बनाना चाहा, परन्तु ज्येष्ठ भाई के रहते उसने स्वयं युवराज बनना स्वीकार नहीं किया। अनेक प्रकार से पिता के आग्रह करने पर भी जब वह युवराज नहीं बना तब सोमेश्वर को ही युवराज बनाया गया, किन्तु कार्यभार विक्रम को ही राम्भालना पड़ता था। पिता की आज्ञा से उसने अनेक युद्ध किये और सबमें विजय प्राप्त की। उसने चोल नरेश को हराकर उसकी राजधानी कांची को हस्तगत कर लिया। मालव–पति के शरण में आने पर उसके शत्रुओं को पराजित करके उसका राज्य पुनः लौटा दिया। कामरूप और गौड़ देशों पर विजय प्राप्त की। केरल के राजा को युद्ध में मारा, सिंहल नरेश ने अधीनता स्वीकार कर ली। चोल देश के गाङ्गकुण्ड और चक्रकोर नगरों को जीतकर लौटते समय उसे कृष्णा नदी के किनारे अपने पिता के निधन का समाचार मिला। अपने रोग को असाध्य समझकर आहवमल्ल ने तुंगभद्रा में जल समाधि ले ली थी। आहवमल्ल की मृत्यु के अनन्तर उसके ज्येष्ठ पुत्र सोमेश्वर द्वितीय (१०६८–१०७६ ई०) ने ही शासन सम्हाला। विक्रमादित्य ने विजयों में प्राप्त सम्पत्ति सोमेश्वर को ही अर्पित कर दी।

कुछ समय पश्चात् दुर्दैववश सोमेश्वर अत्यन्त दुर्विनीत और अन्याय परायण

हो गया। अपने दुर्गुणों से उसने चालुक्य राज्यलक्ष्मी को कलङ्कित कर दिया। यह देखकर विक्रम को अनिच्छापूर्वक कल्याणी छोडकर अपने अनुज जयसिंह को साथ लेकर निकलना पड़ा। इस बात को सहन न कर सकने के कारण सोमेश्वर ने उससे युद्ध करने के लिए विशाल वाहिनी भेज दी। पहले तो विक्रम ने उस युद्ध को बहुत टाला पर अन्ततः विवश होने पर उसे युद्ध के लिए तैयार होना पड़ा। क्षणभर में उसने सारी सेना को विध्वस्त कर दिया। उसके पश्चात् विक्रमादित्य ने तुंगभद्रा के तटपर अपना शिविर बनाया और विजय आरम्भ की। कोंकण नरेश जयकेशि तथा आलुपराज ने उसकी अधीनता स्वीकार की। चोल नरेश ने अपनी कन्या का विवाह उससे कर दिया। कुछ ही दिन बाद चोल नरेश की मृत्यु हो जाने पर उसने कांची के विप्लव का दमन किया और अपने साले को राजा बनाया, किन्तु थोड़े दिनों बाद फिर विप्लव हुआ और नये शासक की मृत्यु हो गयी।

राजिग नामक वेंग देश के राजा ने कांची पर अधिकार कर लिया। इस समाचार को सुनकर विक्रम ने राजिग पर आक्रमण करने के लिए अपनी सेना को तैयार कर कांची की ओर प्रस्थान किया। राजिग ने विक्रम से संधि कर ली जिससे विक्रम के बड़े भाई सोमेश्वर ने उससे चिढ़कर पीछे से उस पर आक्रमण कर दिया। भाई के साथ युद्ध करना अनुचित समझकर विक्रम ने उसके पास अपना दूत भेजा, पर परिणाम कुछ न निकला। अन्त मे युद्ध हुआ और विक्रम अपने पराक्रम से विजयी हुआ। राजिग भागकर कहीं चला गया, अब कल्याणी का शासन विक्रम करने लगा। उसने अपने भाई से १०७६ ई० के आस–पास राज्य जीता।

विक्रम ने ':करहाट' राजकुमारी चन्द्रलेखा को स्वयंवर में जीता और उसे

अपनी पटरानी बनाया। राज्यारोहण के कुछ समय बाद छोटे भाई जयसिंह ने जो वनवास मण्डल पर शासन करता था विक्रम पर आक्रमण कर दिया। किन्तु युद्ध में उसकी पराजय हुई और विक्रमादित्य उसे समझा–बुझाकर कल्याणी लौट आया। चोलों के फिर सिर उठाने पर उन्हें पराजित कर कांची पर अधिकार कर लिया। वहां कुछ दिन रहकर विक्रम अपनी राजधानी को वापस लौट आया।

इस प्रकार समस्त शत्रुओं को परास्त कर विक्रम ने सब प्रकार से सुख शान्ति व समृद्धि का एकछत्र राज्य स्थिर कर लिया। उसका राज्य तुंगभद्रा से नर्मदा तक विस्तृत था। जहां एक बिल्हण जैसा एक महान् कवि विक्रमादित्य षष्ठ का राजकवि था, वहीं याज्ञवल्क्य स्मृति पर सुप्रसिद्ध मिताक्षरा टीका के रचयिता महापण्डित विज्ञानेश्वर भी उसी के आश्रय में रहते थे।

विक्रम ने ११२७ ई० तक राज्य किया। इसके दो पुत्र (जयकर्ण, सोमेश्वर) और एक कन्या मैलल महादेवी हुई। उपर्युक्त सम्पूर्ण कथा १८ सर्गों में विभाजित है।

इस प्रकार इस महाकाव्य में चालुक्यवंशीय राजाओं के १०७६–११२६ ई० तक के राजाओं के इतिहास का वर्णन हुआ है।

कर्त्ता का समय व जीवन परिचय–

जैसा कि सर्वविदित है कि विक्रमाङ्कदेवचरितम् के रचनाकर्ता कवि बिल्हण है। बिल्हण का स्थिति काल ११वीं सदी का उत्तरार्ध माना जाता है क्योंकि कल्हण ने राजतरंगिणी में बिल्हण के सम्बन्ध में लिखा है–

काश्मीरेभ्यो विनिर्यातं काले कलशभूपतेः[1]।

अर्थात् राजा कलश के राज्यकाल में बिल्हण ने कश्मीर से प्रस्थान किया। ऐतिहासिक प्रमाण से कलश का राज्याभिषेक १०६२ ई० में हुआ था। अतः उसके बाद ही कवि का कश्मीर छोडना निश्चित हुआ फिर राजतरंगिणी में वहीं यह भी उल्लेख है–

त्यागिनं हर्षदेवं स श्रुत्वा सुकविबान्धवम्[2]।

बिल्हणो वञ्चनं मेने विभूतिं तावतीमपि।।

अर्थात् सुकवि बान्धव त्यागी हर्ष के यश को सुनकर बिल्हण ने उतने विभव को भी वञ्चना ही माना। हर्ष का समय १०८४–११०१ ई० माना जाता है। अतः इन उल्लेखों के आधार पर बिल्हण का समय उपर्युक्त मानना उचित है।

बिल्हण की रचनाएं–

यद्यपि सुभाषित ग्रंथों में बिल्हण के नाम से अङ्कित बहुत से श्लोक उपलब्ध होते हैं और जल्हण गुम्फित 'सूक्तिमुक्तावली' में बिल्हण के १०८ श्लोक मिलते हैं तो भी पुस्तकाकार में उनकी चार रचनाएं प्राप्त हुई है–

१. शिवस्तुति २. कर्णसुन्दरी नाटिका

३. चौरपञ्चाशिका ४. विक्रमाङ्कदेवचरितम्

१. **शिवस्तुति–** यह रचना भगवान् शङ्कर की स्तुति के रूप में लिखी गयी है। कवि ने इसकी रचना कब की यह नहीं कहा जा सकता।

---

१. **राजतरंगिणी– ७**

२. **राजतरंगिणी– ६३५**

२. **कर्णसुन्दरी–** यह चार अङ्कों में लिखित एक नाटिका है, जो हर्षदेव की रत्नावली नाटिका की शैली में लिखी गयी है। इसमें गुजरात के राजा कर्णदेव का एक विद्याधर कन्या के साथ प्रणय और अन्ततः महारानी की अनुमति से विवाह वर्णित है। सम्भावना है कि इसकी रचना कवि ने अणहिलपट्टण के राजा के आश्रय में रहते हुए की होगी। कवित्व की दृष्टि से यह रचना अत्यन्त सुन्दर है। इस पुस्तक का प्रकाशन काव्यमाला संस्कृत सीरीज की सातवीं सङ्ख्या में बम्बई से हुआ है।

३. **चौरपञ्चाशिका–** यह श्रृंङ्गार रस से परिपूर्ण एक खण्ड काव्य है। इसमें ५० श्लोक है और प्रति श्लोक का आरम्भ 'अद्यापि' पद से है। जैसे–इसका अंतिम श्लोक बहुत भावपूर्ण तथा सुप्रसिद्ध है–

"अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटं कूर्मो बिभर्ति धरणींखलु पृष्ठभागे।

अम्भोनिधिर्वहति दुःसहवाडवाग्निमङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।।"

इस पुस्तक की रचना के सम्बन्ध में एक आख्यायिका प्रचलित है। गुजरात में महिलापत्तन नामक नगर में वीर सिंह नाम का एक राजा था। उसने अवन्ती के राजा 'अतुल' की पुत्री 'सुतारा' से विवाह किया। उससे शशिकला नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। बड़ी होने पर शशिकला को पढ़ाने के लिए, संयोगात् वहाँ आये हुए बिल्हण कवि को नियुक्त किया गया। शशिकला थोड़े ही दिनों में विदुषी हो गयी। इसके पश्चात् काव्यशास्त्र और कामशास्त्र आदि का अध्ययन करते–करते शशिकला जन्मान्तरीय संस्कार के उद्‌बुद्ध हो जाने से बिल्हण पर अनुरक्त हो गयी। दोनों में प्रणय चलता

रहा। जब रहस्य खुला तो बिल्हण को मृत्युदण्ड मिला। जब कवि वध स्थान पर ले जाया गया तो उसने अपनी प्रेयसी का स्मरण करते 'चौरपञ्चाशिका' के श्लोक पढ़े। श्लोकों से द्रवित होकर अधिकारियों ने राजा को इसकी सूचना दी। राजा ने भी द्रवित होकर कवि को क्षमा कर दिया और राजकुमारी का कवि के साथ विधिपूर्वक विवाह कर दिया। कहा जाता है कि बिल्हण का दूसरा नाम 'चोर' या 'चौर' था। जयदेव के पद्य से भी यह सिद्ध होता है "यस्याश्चौरश्चिकुरनिकरः"। इसी आधार पर इसका नाम 'चौरपञ्चाशिका' रखा गया है।

इस पुस्तक का प्रकाशन बर्लिन, मद्रास, बम्बई और कलकत्ता से समय–समय पर हुआ था।

४. **विक्रमाङ्कदेवचरितम्–** यह महाकवि बिल्हण की अद्वितीय रचना है। अपने आश्रयदाता विक्रम के यश का वर्णन करने के लिए महाकवि ने इस महाकाव्य की रचना की। संस्कृत साहित्य में चरित काव्यों की भी एक सुन्दर परम्परा रही है। आदि कवि बाल्मीकि ने सर्वप्रथम रामायण में रामचरित का पावन वर्णन किया है। भारत के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथों में कल्हण की राजतरंङ्गिणी और बाणभट्ट के हर्षचरित के बाद विक्रमाङ्कदेवचरितम् महाकाव्य की ही गणना की जाती है। विक्रमाङ्कदेवचरितम् १८ सर्गों में निबद्ध एक महाकाव्य है। इसमें वीर रस का प्राधान्य है। चालुक्यवंशीय महाराज विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल इसके नायक हैं।

प्रकाशन संस्करण–

इस पुस्तक का प्रकाशन प्रसिद्ध जर्मन विद्वान जार्ज व्यूहलर ने बाम्बे संस्कृत सीरीज में १८७५ ई० में किया था। ब्यूहलर और याकोवी जब प्राचीन पाण्डुलिपियों की खोज में भ्रमण कर रहे थे तब राजस्थान में उन्हें इसकी पाण्डुलिपि मिली थी। इसका दूसरा संस्करण वाराणसी से ज्ञानमण्डल द्वारा १९२७ ई० में प्रकाशित हुआ। तीसरा संस्करण श्री मुरारीलाल नागर के द्वारा सम्पादित और संशोधित होकर सरस्वती भवन पुस्तकालय वाराणसी से प्रकाशित हुआ। चौथा संस्करण भी वाराणसी से ही 'हिन्दू विश्वविद्यालयीय संस्कृत साहित्यानुसन्धान समिति' द्वारा प्रकाशित किया गया।

जीवन परिचय–

महाकवि बिल्हण का जीवन–चरित्र संस्कृत के अन्य महा कवियों की भाँति अंधकार में नहीं है क्योंकि प्रस्तुत महाकाव्य के अंतिम अठारहवें सर्ग में उन्होनें अपना संक्षिप्त परिचय लिख डाला है। तद्नुसार– कश्मीर के प्रधान नगर प्रवरपुर (श्रीनगर) से सार्धगव्यूति मात्र (ढाई कोस) की दूरी पर उत्तुङ्ग चैत्यों वाला 'जयवन' नाम का एक स्थान था–

"तस्मादस्ति प्रवरपुरतः सार्धगव्यूतिमात्रीं[1]।
भूमिं त्यक्त्वा जयवनमिति स्थानमुत्तुङ्गचैत्यम।।"

इसी के पास 'खोनमुष (वर्तमान खुनमोह) नामक ग्राम में बिल्हण का जन्म हुआ। यह स्थान अपने केसर और अंगूर के लिए प्रसिद्ध था–

---

१ **विक्रम, १८/७०**

"ब्रूमस्तस्य प्रथमवसतेरदभूतानां कथानां,।[1]
किं श्रीकण्ठश्वशुर शिखरिक्रोडलीलाललाम्नः।।
एको भागः प्रकृति सुभगं कुङ्कुमं यस्य सूते,।
द्राक्षामन्यः सरससरयूपुण्ड्कच्छेदपाण्डुम्।।"

यहाँ पर महाराज गोपादित्य ने मध्यप्रदेश से कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणों को बुलाकर बसाया था। उन ब्राह्मणों में एक 'मुक्तिकलश' नामक व्यक्ति वेदादि शास्त्रों में निष्णात् एवं अग्निहोत्री था। उस विप्रवर से महापण्डित 'राजकलश' का जन्म हुआ था, जो व्याकरण की गूढ़ गुत्थियों को सुलझाने के लिए पातञ्जल महाभाष्य पर व्याख्यान दिया करता था–

"महाभाष्यव्याख्यां सकलजनवन्धौ निदधतः।
सदा यस्य च्छात्रैस्तिलकितमभूत् प्राङ्गणमपि।।"

उसकी पत्नी का नाम 'नागादेवी' था। उसी दम्पत्ति से महाकवि बिल्हण ने जन्म ग्रहण किया। वे बाल्यकाल से अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि थे। वेद, व्याकरण, दर्शन, साहित्य शास्त्र, सब पर उनका समान अधिकार था। ऐसा कौन विषय था, जो उनकी प्रज्ञारूपी निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्बित नहीं हुआ–

साङ्गो वेदः फणिपतिदिशा शब्दशास्त्रे विचारः,।
प्राणा यस्य श्रवणसुभगा सा च साहित्यविद्या।।
कोवा शक्तः परिगणयितुं श्रूयतां तत्त्वमेतत्।
प्रज्ञादर्शे किमिव विमले नास्य सङ्क्रान्तमासीत्।।"[2]

वाग्देवी के चरण–रज के प्रभाव से विद्या–वधुएं बिल्हण का आनन निहारती थी। उनकी सरस और मधुर कविता देश–देशान्तरों में व्याप्त हो गई–

१.. विक्रम. १८/७२
२. विक्रम. १८/८२

"चक्रं यस्याक्रियत वदनप्रेक्षि विद्यावधूनां।
श्रीवाग्देव्याश्चरणरजसा कार्मणत्वं गतेन।।
याताः सार्धं दिशि–दिशि पुनर्वन्धुरा सर्गवन्धाः।
कीर्तेः परिप्लवविदलने सौविदल्ला बभूवु।।"[1]

बिल्हण अपने जीवन काल में अपनी कविता का समादर न देखकर 'उत्पत्स्यतेहि मम् कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' लिखने वाले भवभूति के समान नहीं थे। प्रत्युत् उनके जीवन काल में ही गाँव–गाँव में, नगर–नगर में आबालवृद्ध जन आनन्दविभोर होकर उनके काव्य का पाठ करते थे–

"ग्रामो नासौ न स जनपदः सास्ति नो राजधानी।
तन्नारण्यं न तदुपवनं सा नसारस्वती भूः।।
विद्वान् मूर्खः परिणतवया बालकः स्त्री पुमान् वा।
यत्रोन्मीलित पुलकमखिला नास्य काव्यं पठन्ति।।"[2]

बिल्हण ने महाकवि बाणभट्ट की तरह लम्बी यात्रायें भी की थी। कश्मीर में अपने यश का विस्तार करके उन्होनें देशान्तर के लिए प्रस्थान (१०६२–१०६५ ई०) में किया। यमुना के किनारे–किनारे वे मथुरा पहुँचे। वहाँ विद्वानों से शास्त्रार्थ किया और कुछ समय तक वृन्दावन में निवास किया। फिर वृन्दावन से कान्यकुब्ज होते हुए वे प्रयाग आये। यहाँ उन्होनें अपने पूर्वोपार्जित प्रचुर धन को उदारतापूर्वक दान कर दिया–

तस्मिन् वारान् कति न कृतिना तीर्थनाथे प्रयागे।
दत्ता विश्वाद्भुतगुणगणोपार्जिता येन लक्ष्मीः।।

वहाँ से वे काशी पहुँचे और उन्होनें गंगा में दुःशील राजाओं के

---

[1]. विक्रम. १८/८३
[2]. विक्रम. १८/८६

मुखावलोकनजन्य पाप को धो डाला।

डाहल (बुन्देलखण्ड) देश के नरेश कर्ण ने बिल्हण का बहुत सम्मान किया था। डाहल नरेश के यहाँ प्रसिद्ध कवि गङ्गाधर को उन्होनें परास्त किया था। यह शास्त्रार्थ विद्याकेन्द्र काशी में ही हुआ था। उस समय काशी पर डाहलाधीश का ही शासन था। यद्यपि बिल्हण ने कई जगह शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की थी किन्तु किसी विजित पण्डित के नामोल्लेख का यही प्रयोजन हो सकता है कि इस विजय को कवि ने बहुत महान् या लोकोत्तर माना है।

"नीत्वा गङ्गाधरमधरतां डाहलाधीशधाम्निः।

क्रीडाक्रान्त प्रतिभट कवेः पूर्वदिक्कोटरेषु।।"

तत्पश्चात् बिल्हण अपनी वाग्धारा से अयोध्या को शीतल करके गुर्जर देश की ओर प्रस्थित हुए। गुर्जर के मार्ग में वे धारा भी गये, किन्तु उसके पूर्व ही (१०५५ ई० में) राजा भोज का स्वर्गवास हो चुका था। अतः भग्नमनोरथ होकर वे वहाँ से आगे बढ़े—

'भोजः क्ष्माभृत्स खलु नखलैस्तस्य साम्यं नरेन्द्रैस्तत्।
प्रत्यक्षं किमिति भवता नागतं हा हतास्मि।।
यस्य द्वारोड्डमरशिखरक्रोडपारावतानां।
नादण्याजादिति सकरूणं ब्याजहारेव धारा।"

इस प्रकार बढ़ते हुए उन्होनें भगवान् सोमनाथ का दर्शन किया। वहाँ से वे रामेश्वर के दर्शन के लिए चल पड़े। भगवान् रामेश्वर के दर्शन कर चुकने के बाद उन्होनें बड़े—बड़े नरेशों की सभाओं को अलंकृत किया। दक्षिण प्रदेश में पर्यटन करते—करते वे कल्याणी के चालुक्य नरेश महाराज विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल

(१०७६–११२६ ई०) की राज सभा में आये। जहॉ सम्मान प्राप्त कवियों के लिए प्रवेश पाना कठिन था। राजा विक्रम ने बिल्हण का बहुत सम्मान किया और बहुत धन सम्पत्ति दी। यह देखकर वहाँ के अन्य कवि बिल्हण से द्वेष करने लगे और ऐसा षडयन्त्र रचा कि विक्रम बिल्हण से अप्रसन्न हो गया पर विक्रम स्वयं विद्याप्रेमी था। वह बिल्हण की योग्यता से परिचित था। इसलिए उसने पुनः बिल्हण को बुलाकर बहुत सम्पत्ति भेंट की और उन्हे 'विद्यापति' की उपाधि से विभूषित किया–

"नीलच्छत्रोन्मदगजघटा पात्र मुत्रस्त चोलाच्चालुक्येन्द्रादलभत कृतीयोऽत्र विद्यापतित्वम्।

अस्मिन्नासीत्तदनु निबिडाश्लेष हे वाकलीलावेल्लद् वाहुक्वणित वलया सन्ततं राजलक्ष्मीः।।"

अर्थात् चोलाधिपतिको त्रस्त करने वाले चालुक्य राज (विक्रमाङ्कदेव) से जिसने नीलवर्ण छत्र, अनेक गज तथा 'विद्यापति' की उपाधि प्राप्त की। उसके पास तदुपरान्त गाढ़ालिंक से स्फुरित बाहुओं में शब्दायमान ककड़ों वाली राजलक्ष्मी निरन्तर वास करने लगी। बिल्हण के सम्बन्ध में कल्हण ने राजतरंङ्गिणी में लिखा है–

काश्मीरेभ्यो विनिर्यातं काले कलशभूपतेः।
विद्यापतिं यं कर्णातश्चक्रे परमाडिभूपतिः।।१।।
प्रसर्पतः करितिभिः कर्णाटकतकान्तरे।
राज्ञोऽग्रे ददृशे तुङ्ग यस्यै वातपवारणम्।।२।।
त्यागिनं हर्षदेवं स श्रुत्वा सुकविबान्धवम्।
बिल्हणो कञ्चनं मेने विभूति तावतीमपि।।३।।

अर्थात् राजा कलश के काल में बिल्हण कश्मीर से निकले थे जिन्हें परमार्दि नरेश ने विद्यापति की उपाधि दी। फिर जब कर्णाट देश में उन्होनें गज पर यात्रा की तो उनका आतपवारण छत्र राजाओं के आगे दिखाई पड़ा। उन्होनें हर्ष की कवियों के प्रति आदर दृष्टि की बात सुनकर उतनी विभूति भी वञ्चना ही मानी।

इससे यह सिद्ध होता है कि विद्यापति बिल्हण हर्ष के राज्यकाल (१०४८–११०१ ई०) में विद्यमान थे। विक्रमाङ्कदेव के आश्रय में रहकर उन्होनें अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का उपभोग किया और वृद्धावस्था में विक्रमाङ्कदेव के लिए अपने प्रेम के उपहार रूप में यह काव्य (१०८५ ई० में) निर्मित किया–

'तेन प्रीत्या विरचिमिदं काव्यमव्याजकान्तं कर्णातेन्दोर्जगति विदुषां कण्ठभूषात्वमेतु।'

बिल्हण के ज्येष्ठ भ्राता का नाम 'इष्टराम' था। वे भी प्रकाण्ड विद्वान, महाकवि तथा अनेक राजसभाओं के आभूषण थे।

'विद्वतायाः स खलु शिखरं प्राय यस्येष्टरामो ज्येष्ठो भ्राता क्षितिपतिशतास्थानलीलावतंसः।

वंक्त्रे काव्यामृतरस भरास्वादसक्तैर्यदीये दृष्टा देवी सुकविजननी सा प्रपापालिकेव।।'

बिल्हण के छोटे भाई 'आनन्द' की वाचो युक्ति भी अप्रतिम थी। उसके साथ शास्त्रार्थ करने वाले विद्वान् की कीर्ति उसकी उक्ति रूपी कुल्हाड़ी से कट जाने पर पुनः जुड़ती नहीं थी। बिल्हण के पिता का नाम राजकलश और प्रपितामह का नाम

मुक्तिकलश था। कुछ विद्वानों के अनुसार अल्हण, कल्हण, बिल्हण– ये तीनों सहोदर भ्राता थे। इनके मौसेरे भाई कैयट और जैयट थे तथा इन्हीं के पूर्वजों का नाम मम्मट था। कवि बिल्हण की मृत्यु कब और किन परिस्थितियों में हुई इसका उल्लेख नहीं मिलता है।

काव्य का कलापक्ष–

इस काव्य को इतिहास की कसौटी पर कसन से अनेक त्रुटियाँ लक्षित होंगी, परन्तु काव्य की दृष्टि से यह अनुपम रचना है– मौलिक, रसपेशल तथा चमत्कार मण्डित बैदर्भी रीति का अनुसरण बड़ा सुन्दर है तथा भाषा प्राञ्जल, सरल और स्पष्ट है। वे श्लेष तथा अनुप्रसादि के प्रयोग में अत्यधिकता नहीं करते। परम्परानुगत ऋतुओं का वर्णन चमत्कार से मण्डित है। कालिदास का प्रभाव विशेष रूपेण इन पर पड़ा है, विशेषतः स्वयंवर–वर्णन में इन्दुमती स्वयंवर के वर्णन की सफल प्रतिच्छाया है। चतुर्थ सर्ग में राजा आहवमल्ल की मृत्यु का चित्रण अत्यन्त उत्कृष्ट हुआ है। यह स्वाभाविक कारूण्य का सुन्दर वर्णन है जिसमें मरणासन्न राजा की महत्ता और धैर्य का प्रभावशाली चित्रण है। इस महाकाव्य का अंगी रस वीर रस है। वीर रस के चार भेद होते हैं–

प्रमुख रस–

दानवीर, धर्मवीर, दयावीर तथा युद्धवीर। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में दानवीर का वर्णन हुआ है। महाराज विक्रमाङ्कदेव परमदानी प्रजा वत्सल थे उनके दान का चित्रण करता हुआ कवि कहता है –

'ददौ स दानानि महान्ति षोऽश प्रतापशाली प्रतिपर्व पार्थिवः।
तदन्तिकाद्दानजलैः सकर्दमान्निपातभीत्येव कलिः पलायितः।।१।।

प्रतापशाली राजा विक्रमाङ्कदेव विषुवद आदि प्रत्येक पर्व पर तुलादानादि सोलह दान दिया करता था। अत एव संकल्पों के जल से उसके समीप की जगह गीली हो जाने से कलियुग मानों गीली जमीन पर फिसल कर गिर पड़ने के डर से उसके समीप से भाग गया था, अर्थात् उसके ऊपर कलियुग का कोईप्रभाव न पड़ा था। एकदम शुद्ध सोना दान देने वाले राजा विक्रमाङ्कदेव से यह सन्देह कर कि यह कहीं मेरे शुद्ध सोने को काटकर दान न कर दे सोने का पर्वत सुमेरू अपने सोने में आकाश की नीलिमा की परछाईं पड़ने से मानो अपने सोने में कालिमा की झलक से सम्बन्ध प्रकट करने लगा, अर्थात् सुमेरू के सोने को कालिमायुक्त देख उसे शुद्ध न समझ राजा विक्रमाङ्कदेव उसके सोने का दान न करेगा।

विशङ्कय यस्मात्कनकक्षमाधरः।
अदर्शयत्कालिकयेव सङ्गतिं,
स्वहेम्नि सङ्क्रान्तिनिभान्नभः श्रियः।।[1]

धर्मवीर–

महाकवि बिल्हण ने राजा आहवमल्लदेव की धर्मवीरता का वर्णन किया है–

'तपः स्वहस्ताहृतपुष्पपूजित–त्रिलोचनः स्थण्डिलवासधूसरः।
तथा स राजर्षिरसाधयद्यथा महर्षयोऽस्मादपकर्षमाययुः।।[2]

---

१. विक्रम. १७/४०
२. विक्रम. २/४४

अन्यच्च–

'स सौकुमार्यैकधनोऽपि सौढवांस्तपोधनैर्दुष्प्रसहं परिश्रमम्।
रराजतीव्रे तपसि स्थितो नृपः शशीव चण्डद्युति मण्डलातिथिः।।'[1]

दयावीर–

सम्प्राप्तं कुलकण्टकं तमटवीमध्यादवन्ध्यैर्भटैः।
कारुण्योद्गतवाष्पगद्गदपदः सम्भाष्य सन्तोष्य च।।
चालुक्यान्वयशेखरोऽथ शिखर प्रेङ्खोल मुक्ताफल–
प्रालम्बद्युतिपुञ्जदर्शितयशोगुच्छामगच्छत्पुरीम्।।'[2]

युद्धवीर–

'मदकरटिनमुत्कटप्रतापः प्रकटितवीरमृदङ्ग धीरनादः।
मथनगिरिमिवाधिरूह्य वेगात्प्रतिबलवारिधिलोडनं चकार।।'[3]

अङ्ग रस–

इस महाकाव्य में वीर रस के अतिरिक्त अन्य रसों का सहायक के रूप में चित्रण मिलता है। पिता की मृत्यु पर महाराज विक्रमाङ्कदेव सामान्यजन की तरह विलाप करते हैं जिसमें करूण रस की मार्मिक अभिव्यंजना हुई है।

---

१. विक्रम. २/४५
२. विक्रम. १५/८७
३. विक्रम. ६/६८

'इत्युक्त्वा विरते तत्र कृतनेत्राम्बुदुर्दिनः।
हृतासिधेनुः पार्श्वस्थैः साक्रन्दगलकन्दलः।।
स्वभावा दार्द्रभावेन पितृस्नेहाच्च तादृशः।
तथा रूरोदे वपुषा भूपृष्ठलुठितेन सः।।'[1]

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित वीभत्स का एक अंश–

युद्ध प्रसङ्ग में वीभत्स का सजीव चित्रण इस महाकाव्य में प्रभूत मात्रा में हुआ है। राजनीति प्रधान वर्ण्य विषय वाले काव्यों में युद्ध का वर्णन करना अपरिहार्य हो जाता है। अतः विक्रमाङ्कदेवचरितम् में स्थान–स्थान पर वीभत्स एवं हृदयविदारक दृश्य पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं–

तत्कुम्भिकुम्भस्थलचीनपिष्ट – विपाटलो वारिनिधिर्बभासे।
आपूरितश्चोलबलक्षयोत्थ – रक्तापगानामिव मण्डलेन।।[2]
'रूधिरपटलकर्दमेन दूरं रणभुवि दुर्गमतामुपागतायाम्।
गमनमनिमिषप्रियाजनस्य प्रियमकरोदवलम्बनानपेक्षम्।।[3]

खून के आधिक्य से कीचड़ हो जाने से युद्धभूमि के दुर्गम हो जाने पर देवाङ्गनाओं की आश्रय रहित आकाश गति को उसने उनके लिए अभीष्ट साधक बना दिया, अर्थात् उनको युद्ध देखने में कोई रूकावट न पड़े। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में श्रृङ्गार रस का वर्णन बिल्हण की काव्य प्रतिभा को पाकर परिपाकत्व प्राप्त करता दिखता है। इस महाकाव्य में श्रृङ्गार रस वर्णन अनायास ही पाठक को मुग्ध कर

---

१. विक्रम. चतुर्थ– ६६, ७०
२. विक्रम. तृतीय –६१
३. विक्रम. षष्ठ– ७३

लेता है।

'वक्त्रंनिर्मलमुन्नता कुचतटी मध्य प्रदेश कृशः।
श्रोणीमण्लमङ्गनाकुल गुरोर्देवस्य सिंहासनम्।।
कृत्वा चारु दृशश्चतुष्टयमिद तुष्टाव मन्ये विधि–
हर्षाद्गदगद्गद्यपद्यरचनागर्भैश्चतुर्भिर्मुखै।।'[1]

विप्रलम्भ श्रृंगार–

इस महाकाव्य में वियोग श्रृंगार के अनुपम चित्रण प्राप्त होते हैं। राज्य सम्बन्धी कार्य के निमित्त अथवा युद्धस्थल आदि में राजाओं के चले जाने पर उनकी रानियों के विरह का मार्मिक चित्रण इस काव्य में कवि बड़े मनोयोगपूर्वक किया है।

श्रोत्रामृतस्य स्फटिकप्रणालीं दिव्याम्बुधारां स्मरचातकस्य।
वार्त्तां गृहीत्वा हरिणेक्षणायाश्चरः क्षमाभर्तुरथाजगाम्।।[2]

इस प्रकार चन्दलदेवी के विरह सन्ताप से बहुत पीड़ित होने पर राजा विक्रमाङ्कदेव का दूत, कर्ण को सुख देने वाले अमृत के बहाने के लिए स्फटिक की बनी नाली के रूप तथा कामरूपी चातक के लिए स्वर्गीय जलधारा के स्वरूप, उस मृगनयनी चन्दलदेवी की खबर लेकर आ गया।

उपर्युक्त करूण, वीभत्स तथा श्रृंगार आदि का सफल अंकन करने में बिल्हण को सफलता मिली है। इनके वर्णनों में कवि की स्वच्छ प्रतिभा, ऊँची कल्पना, कमनीय पद योजना तथा रोचक यथार्थता पदे–पदे दृष्टिगोचर होती है।

यह महाकाव्य प्रसाद गुण–मण्डित वैदर्भी शैली में लिखा गया है। वैदर्भी की

---

१ विक्रम. अष्टम् ८८
२. विक्रम. नवम् २५

प्रशंसा में कवि स्वयं लिखता है।

"अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्।।"

धर्मवीर–

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में राजा को समर्पित धर्मानुचरण वाला होना बताया गया है। राजा आहवमल्लदेव द्वारा अभीष्ट प्राप्ति के लिए कठोर तप करने, अपने धर्म का सम्यक् अनुपालन करने तथा अन्य धर्मोचित कर्म करते हुए उनका वर्णन किया गया है–

"तपस्वहस्ता...." अपने हाथों से तोडे हुए फूलों से शङ्कर की पूजा करने वाले उस राजर्षि ने स्थण्डिल पर ही निवास करने से धूली से धूसरित होकर ऐसी उग्र तपस्या की जिससे महर्षि लोग भी तपस्या में इससे नीचे हो गये।

"स सौकुमार्य........." स्वभाव से ही अत्यन्त सुकुमार होने पर भी उसने तपस्वियों से भी अत्यन्त कठिनता से सहने योग्य क्लेश सहन किया। घोर तपस्या में लगा हुआ वह राजा सूर्यमण्डल के निकट आए हुए चन्द्रमा के समान म्लान दिखाई पड़ने लगा।

दयावीर–

जहाँ पर राजा को अत्यन्त तेजस्वी तथा युद्धादि में भीषण संग्राम करते, शत्रु–सैनिकों का वध करते तथा कठोर निर्णय लेते हुए दिखाया गया है, वहीं पर बिल्हण ने अपने महाकाव्य में राजा में दया आदि मानवीय गुणों का भी सुन्दर मिश्रण होने का वर्णन किया है–

"सम्प्राप्तं कुलकण्टकं ...." इसके अनन्तर चालुक्यवंश के मुकुट राजा विक्रमाङ्कदेव ने सफल परिश्रम करने वाले योद्धाओं द्वारा जंगल के मध्य में पाये हुए कुलाङ्गर सिंहदेव को, दया से उत्पन्न आंसुओं के कारण गद्‌गद शब्दों से युक्त वाणी से बोलकर और उसको ढ़ांढस देकर महलों की चोटियों पर चंचल मोती की मालाओं की चमक से कीर्ति के गुच्छों को प्रकट करने वाली कल्याणपुरी में प्रवेश किया।

युद्धवीर–

मानवीय गुणों से युक्त होना, कलाओं का समादरकर्ता होना तथा विद्याओं में नैपुण्य, राजा की विशिष्टता को बताने का माध्यम हुआ करता था लेकिन राजा का युद्धवीर होना किसी भी राजा का प्राथमिक अनिवार्य गुण था। सत्ता हमेशा से युद्धवीर के पक्ष में रही है। इसी का उल्लेख बिल्हण ने भी किया है–

"मदकरटिन............"

उत्कृष्ट प्रभाव वाले, मृढङ्ग के ऐसे वीरों के गम्भीर शब्दों को प्रकट करने वाले विक्रमाङ्कदेव ने मन्दराचल के समान मदोन्मत हाथी पर सवार होकर वेग से शत्रु सेनारूपी समुद्र को मथ डाला। अर्थात् शत्रु की सेना को नष्ट कर दिया।

"अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्।।"

यहाँ 'अनभ्रवृष्टि' मुहावरे से यह व्यक्त किया गया है कि वैदर्भी शैली काव्यानन्द की सतत् सृष्टि अनायास ही सहज रीति से करती है। काव्य भाषा और कवि कल्पना की सहजता और स्वतः स्फूर्त रमणीयता वैदर्भी से ही प्राप्त होती है।

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा बिल्हण ने अपनी जन्मभूमि को बृहत्कथा का स्रोत प्रतिपादित किया है।

बिल्हण की प्रौढ़ि प्राचीन साहित्यिकों में चिरकाल से प्रसिद्ध है। इनका कहना है कि कवीश्वरों के भावों को अन्य कवि कितना भी ग्रहण करते जाँय उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती। दैत्यों ने असङ्ख्य रत्नों को छीन लिया तो भी आज समुद्र रत्नाकर ही बना हुआ है–

'गृण्हन्तु सर्वेयदि वा यथेष्टं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्येरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः।।'

बिल्हण राजाओं से कहते हैं कि कवियों से जीवन की सच्चाई जानकर सावधान बनो–

'स्वेच्छाभङ्गुरभाग्यमेधतडितः शक्या न रोद्धुं श्रियः।
प्राणानां सततं प्रयाणपटह श्रद्धा न विश्राम्यति।।
त्राणं येऽत्र यशोमये वपुषि वः कुर्वन्ति काव्यामृतैः।
तानाराध्य पदे विधत्त सुकवीन् निर्गर्व मुर्वीश्वराः।।

अर्थात् हे राजाओं! ऐश्वर्य श्री तो बिजली के समान अस्थायी है। उसे अपने पास रखने के लिए सदा रोके नहीं रख सकते। यहाँ से जाना है– यह घंटा सदा बज रहा है। अरे उन कवियों की आराधना करो, जो तुम्हारे यशः शरीर को अपने काव्य के अमृत से अमर बना देंगे।

'लङ्कापतेः सङ्कुचितं यशोयत् यत् कीर्तितः तं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः।।

अर्थात् कवियों को रुष्ट करना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं है। उनकी बलवती वाणी मे यह प्रभाव है कि वे युग–युग के लिए चिरस्मरणीय या निन्द्य बना सकते हैं। लङ्कापति रावण का यश सङ्कुचित हो गया और राम यश के पात्र हो गये, यह सब आदि कवि बाल्मीकि का ही प्रभाव है, अतः राजा लोग कवियों को कदापि कुपित न करें।

'कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्न: सुमहान् खलानाम्।
निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य क्रमेलक: कष्टकजालमेव।।'

अर्थात् दुर्जन लोग सुन्दर रसीली कविता को सुनकर भी उनके दोषों को खोजने में ही लगे रहते है। सच है, सुन्दर केलिवन में आने पर भी ऊँट केवल काँटों को ही खोजता है। कोमल फलों तथा पत्तों की ओर उसकी दृष्टि कदापि नहीं जाती।

इस प्रकार प्रस्तुत काव्य में प्रौढ़ि तथा अनूठी सूक्तियों के साथ माधुर्य एवं प्रसाद गुण रचना का लालित्य, भाषा का प्रवाह, कल्पना की स्पष्टता और रस की अभिव्यक्ति जुड़ी हुई है। वीररस तो प्रधान है ही परन्तु श्रृंङ्गार तथा करूण रस का पुट भी कम मनोहर नहीं है। इसमें चतुर्थ सर्ग अत्यन्त प्रशसनीय है। करूण रस को बड़ी सुचारता से भर दिया है। आहवमल्ल के अन्तकालीन वचनों का करूणोद्‌गार देखिए–

'जानामि करिकर्णान्तचञ्चलं हतजीवितम्।
मम नान्यत्र विश्वासः पार्वती जीवितेश्वरात्।।
उत्सङ्गे तुङ्गभद्रायास्तदेष शिवचिन्तया।
वाञ्छाम्यहं निराकर्तुं देह ग्रहविडम्बनाम।।'[1]

अर्थात् मेरी समझ में जीवन वैसे ही चञ्चल है, जैसे हाथी के कान का सिरा। मुझे अब शिव को छोडकर अन्यत्र विश्वास नहीं रह गया। मैं शिव का चिन्तन करते हुए तुङ्गभद्रा नदी की गोद में शरीर छोड देना चाहता हूँ।

अलंकार–

इस काव्य में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, भ्रान्तिमान आदि अलङ्कारों का प्रयोग भी समुचित रीति से किया गया है। निम्न श्लोकों में देखिए कैसी सुन्दर उत्प्रेक्षा है–

'एकत्र वासादवसानभाजस्ताम्बूललक्ष्म्या इव संस्मरन्ती।
वक्त्रेषु यद्वैरिविलासिनीनां हास प्रभा तानवमाससाद।।
यं वारिधिः प्रज्वलदस्त्रजालं वेलावनान्तेषु नितान्तभीतः।
भूयः समुत्सारण कारणेन समागतं भार्गवमाशशङ्के।।'
'रत्नोत्कग्राहिषु यद्भदेषु तटत्रुटन्मौक्तिकशुक्ति भङ्ग्या।
अस्फोटयत्तीर शिलातलेषु रोषेण मूर्धानमिताम्बुराशिः।।
यं वीक्ष्य पाथोधिरधिज्यचापं शोणाश्मभिः शोणितशोणदेहैः।
क्षोभादभीक्ष्णं रघुराजबाण जीर्णब्रणस्फोटमिवाचचक्षे।।'[2]

यहाँ उक्ति की भङ्गिमायें, भाषा की प्रसन्नता और भावों का उच्छल उद्रेक भी कवि का वैशिष्ट्य बता रहा है।

---

१. विक्रम. ४/५८, ५६
२. विक्रम. १/१०६–१०६

छन्द–

इस काव्य में सरल छन्दों का प्रयोग किया गया है। छः सर्गों में इन्द्रवज्रा, तीन में वंशस्थ, दो में श्लोक तथा रथोद्धता और मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा तथा स्वागता में एक–एक सर्ग है। सर्गों के अन्त में परिवर्धन के लिए शार्दूलविक्रीडित और बसंततिलका प्रयुक्त है। बैतालीय की प्रचुरता १५वें सर्ग में है। इस महाकाव्य में महाकाव्य के लक्षण के अनुरूप ही छन्दों का प्रयोग किया गया है, अर्थात् एक सर्ग में एक छन्द और सर्गान्त में छन्द बदलने का नियम है। बिल्हण ने अपने काव्यवैदुष्य का परिचय देते हुए इस महाकाव्य में अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। प्रथम सर्ग में उपेन्द्रवज्रा एवं इन्द्रवज्रा, द्वितीय और तृतीय सर्ग में वंशस्थ, चतुर्थ में अनुष्टुप्, पंचम में रथोद्धता, षष्ठ में पुष्पिताग्रा, सप्तम में इन्द्रबज्रा, अष्टम् में अनुष्टुप्, नवम में पुनः इन्द्रवज्रा, दशम में इन्द्रवज्रा, एकादश में स्वागता, द्वादश एवं त्रयोदश में उपजाति, चतुर्दश में रथोद्धता, पञ्चदश में वियोगिनी, षोडश में अनुष्टुप्, सप्तदश में उपजाति और वंशस्थ और अष्टादश में मन्दाक्रान्ता आदि के प्रयोग कवि के छन्द सम्बन्धी ज्ञान के परिचायक है। इसी प्रकार छन्द में कहीं शार्दूलविक्रीडित तो कहीं इन्द्रवज्रा, किसी सर्गान्त में मालिनी, कहीं हरिणी आदि छन्दों का प्रयोग किया। कवि बिल्हण ने छन्दों का प्रयोग कथा के वर्ण्य–विषय के अनुरूप किया है। जैसे–कथा के विस्तार का संग्रह करने, उपदेश या वृतान्त कथन में अनुष्टुप् छन्द अनुपयुक्त माना गया है।[1]

रथोद्धता, चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभावों का वर्णन करने के लिए उपयुक्त

---

१. सुवृन्ततिलक– ३/१७

छन्द माना गया है।[1] इसी प्रकार वंशस्य छन्द षड्गुण्यादि राजनीति सम्बन्धी विषयों का कथन करने के लिए सर्वथा उपयुक्त माना गया है।[2]

इसी प्रकार मालिनी सर्ग के अन्त मे द्रुततालादि के समान प्रयोगार्थ मानी गयी है।[3]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बिल्हण ने छन्दों के प्रयोग में विशेष दक्षता का परिचय दिया है। उन्होनें छन्दों का प्रयोग विषय एवं लक्षण के अनुरूप किया है।

---

१. सुवृन्ततिलक– ३/१८
२. सुवृन्ततिलक– ३/१८
३. सुवृन्ततिलक– ३/१८

तृतीय अध्याय

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित समाज
२. आश्रम व्यवस्था
३. वर्ण व्यवस्था
४. परिवार का स्वरूप
५. विवाह
६. समाज में नारी का स्थान,
७. मनोरंजन
८. वाहन
६. सामाजिक विश्वास

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित समाज का गठन

बिल्हण का सामाजिक वर्णन उत्तर भारतीय सामाजिक संरचना, मध्य भारतीय सामाजिक संरचना तथा दक्षिण भारतीय सामाजिक संरचना का सम्मिलित दर्पण है जिसमें उनके यात्रानुभवों की स्पष्ट छाप दिखती है। सामाजिक जीवन पुरानी परम्पराओं के अनुसार ही चलता था जिसमें नई परिस्थितियों के दबाव से किञ्चित् परिवर्तन अवश्य हुए थे। 'ग्राम–कूट' सम्भवतः गॉव का मुखिया था। भारत के सम्पूर्ण दीर्घकालीन इतिहास में वह सरकार और गॉव के बीच कड़ी का कार्य करता था। वैदिक काल में उसे 'ग्रामणी' कहते थे। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में उसे 'ग्राम–स्वामि' कहा गया है। अन्य चालुक्य अभिलेखों में उसकी आख्या 'ग्राम भोजक' और 'ऊरेडिय' थी। 'महत्तर' गाँवों के विशिष्ट जन होते थे। जैसी उन व्यक्तियों की योग्यता होती, चरित्र होता और उनके पास सम्पत्ति होती उसी हिसाब से सरकार के प्रतिनिधियों और जनता में उनकी प्रतिष्ठा होती थी। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार के विभिन्न श्रेणियों के अधिकारी होते थे। संस्कृत में इनके लिए जिन शब्दों के प्रयोग मिलते हैं और अभिलेखों में कन्नड में जिन पदनामों का प्रयोग है, इन दोनों में क्या संबंध था, यह स्पष्ट नहीं है।

वर्ण व्यवस्था–

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित वर्ण व्यवस्था जन्म से निर्धारित होती थी। वर्ण और व्यवसाय में संबंध अपरिवर्तनीय न थे। अभिलेखों तथा साहित्यिक स्रोतों में ऊँची जातियों के बारे में ज्यादा विवरण उपलब्ध है। सर्वसाधारण के बारे में इनमें

सूचनाएं अपेक्षाकृत कम ही है। सामान्यतः वैदिक काल से चली आ रही चातुर्वर्णव्यवस्था ही समकालीन परिस्थितियों में भी जारी रही।

ब्राह्मण—

विक्रमाङ्कदेवचरितम् के अष्टादशः सर्ग में कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणों का वर्णन प्राप्त होता है जो मध्य देश से लाकर कश्मीर में बसाये गये थे। इन ब्राह्मणों का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

महाकवि बिल्हड़ ने ब्राह्मणों को मध्य देश से लाकर कश्मीर में बसाने का उल्लेख किया है।

कर्तुं कीर्तिप्रणयि कुशलाः कौशिकं गौत्रमुच्चैस्तत्र ब्रह्मप्रवणमनसो ब्राह्मणाः केचिदासन्।
यान्काश्मीरक्षितितिलकतां मध्यदेशावतंसान् गोपादित्यक्षितिक्षितिपतिरसौ पावनानानिनाय।।

[1]उस खोनमुष गांव में कौशिक गोत्र को अत्यन्त कीर्तिशाली बनाने में, वेदाध्ययन में कुशल या परब्रह्म के ज्ञान में तत्पर कुछ ब्राह्मण निवास करते थे। गोपादित्य नामक प्रसिद्ध काश्मीर के राजा ने मध्य प्रदेश से लाकर उन ब्राह्मणों को काश्मीर की शोभा बढ़ाने वाला बनाया।

बिल्हड़ ने स्वयं ही ब्राह्मणों के गुणों का वर्णन अष्टादशः सर्ग में यत्र–तत्र किया है, शारीरिक बनावट की दृष्टि से ये गौर वर्ण के होते थे। ये परम यशस्वी एवं बुद्धिमान थे। दान में मिले अन्न के द्वारा जीविकोपार्जन करना अपना धर्म समझते थे। इस प्रकार इस महाकाव्य में ब्राह्मणों का स्वरूप परम्परागत रूप में वर्णित है। ये

---

१. विक्रम. अष्टादशः सर्गः ७३

अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक विद्वान् आध्यात्मिक कर्म करने वाले तथा निरंतर यज्ञ कर्म में संलग्न रहते थे। जिनके यज्ञों से इन्द्र भी भयभीत रहते थे।

> कीर्तिं येषां शतमखसखीमुत्सुकानामवाप्तुं
> धूमस्तोमें मखपरिचिते पूरयत्यन्तरिक्षम्।
> नो केषाञ्चिद्वचनमशृणोन्नाकरोन्नाकचिन्तां
> शक्रश्चित्रार्पित इव परं छाययाभूद्दरिद्रः।।[1]

इन्द्र के समान कीर्ति प्राप्त करने के लिए उत्सुक जिन ब्राह्मणों के (शत) यज्ञों के धुओं से आकाश आच्छादित हो जाने पर, इन्द्र किसी देव की बातें नहीं सुनता था न तो स्वर्ग की रक्षा की चिन्ता ही करता था किन्तु चित्र में अङ्कित होने के समान मरयैला अर्थात् कांति रहित हो गया था। तात्पर्य यह है कि सौ यज्ञ होते देख अपना पदच्युत न हो इस भय से कान्तिविहीन हो गया था।

क्षत्रिय–

राजनीतिक व्यवस्था का पूर्णदायित्व क्षत्रियों पर था। देश की रक्षा, प्रजापालन एवं शत्रु राजाओं को परास्त करने के लिए युद्धादि करना क्षत्रियों के प्रमुख कर्त्तव्य थे। क्षत्रिय राजाओं के इतिहास से ये सम्पूर्ण महाकाव्य भरा हुआ है। राजा पराक्रमी, शौर्यवान्, तेजस्वी एवं कर्त्तव्यनिष्ठ होते थे। लोहरकिले के स्वामी परम–पराक्रमी क्षितिराज का वर्णन करते हुए कवि इस प्रकार कहता है–

---

१. विक्रम. अष्टादशः सर्गः ७४

"यस्या भ्राता क्षितिपतिरिति क्षात्रतेजोनिधानं
भोजक्ष्माभृत्सदृशमहिमा लोहराखण्डलोऽभूत्।
शङ्के लक्ष्म्याः शिरसि चरणं न्यस्य वक्षः स्थितायाः
प्राप्ता लीलातिलकतुलनां यन्मुखे सूक्तिदेवी।।[1]

क्षत्रियों के अधिकार एवं कर्त्तव्य का विस्तृत विवरण इस शोध–प्रबन्ध के पाँचवें अध्याय में दिया जायेगा।

वैश्य–

इस महाकाव्य में वैश्य वर्ग का स्वल्प वर्णन प्राप्त होता है। वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत वैश्यों का तृतीय स्थान था किन्तु इस महाकाव्य में न तो वैश्य शब्द का और न ही उनके कर्त्तव्यों के वर्णन प्राप्त होते है, किन्तु विभिन्न व्यापार कर्म में लिप्त अनेक व्यापारियों के चित्रण अवश्य मिलते है। इस युग तक व्यापारिक नियम बन गये थे जिनका उल्लेख अभिलेखों[2] में भी प्राप्त होता है।

विभिन्न प्रकार के व्यापार की जो जानकारी इस महाकाव्य के द्वारा प्राप्त होती है। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज में वैश्य व्यापारियों के रूप में प्रतिष्ठित थे। वे कृषि कर्म भी करते थे। किन्तु कृषि किस प्रकार करते थे, किस ऋतु में कौन सी फसलें बोयी जाती थी, इत्यादि का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार इस महाकाव्य में वैश्यों के विषय में जो भी वर्णन प्राप्त होते हैं वह प्रत्यक्ष रूप में न होकर परोक्षरूप में ही है।

---

१. विक्रम. १८/४७
२. कोल्हापुर से प्राप्त अभिलेख– ११३५ ई.

दास–दासियाँ–

इस महाकाव्य में शूद्र शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। राजमहलों एवं राजदरबारों में दास–दासियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनका मुख्य कार्य राजमहिषियों एवं राजाओं की सेवा करना था। वे यदा–कदा रानी का संदेश राजा के पास ले आने व ले जाने का कार्य भी करते थे। परिचारिकाएं रानी की सेवा के अतिरिक्त उनके श्रृंगार वस्त्राभूषण आदि की देखरेख का भी कार्य करती थी।

कभी–कभी आवश्यकता पड़ने पर सेवकगण राजाओं के साथ युद्धस्थल में भी जाते थे और सम्पूर्णकाल में वे राजा एवं सेनापतियों की सेवा में लगे रहते थे।

राजमहल के द्वारों पर दास–दासियों की नियुक्ति रहती थी। वे राजमहल के राजकार्य संचालन में सहयोग देते थे बिल्हण ने दास एवं दासियों के पहरा देने का वर्णन किया है–

वैतालिकानां तुमुलं निवार्य ततः कुमार्यः सुकुमारकण्ठी।
उदाजहार प्रतिहाररक्षी क्रमेण चक्रं पृथिवीपतीनाम्।।[१]

सब तैयारी हो जाने पर, कोमल कण्ठ ध्वनि वाली, रानियों के महल के फाटक पर पहरा देने वाली दासी ने भाटों के भयंकर कोलाहल को शांत कर कुमारी चन्दल देवी को राजाओं का अर्थात् प्रत्येक राजा का परिचय कराया।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में राजकुमारी के सहयोग व सुश्रूषा हेतु प्रतिहारी नामक सेविका का वर्णन आया है जो राजकुमारी की प्रशंसा व परिचय आदि कार्य करती थी जैसा कि चन्द्रलेखा के सन्दर्भ में–

---

१. विक्रम. नवम सर्गः ८७

प्रदर्शयामास ततः कुमार्याः क्षितीशंमन्यं प्रतिहाररक्षी।
चूतानुबन्धे मधुपाङ्गनाया मुग्धा मधुश्रीरिव कर्णिकारम्।।[1]

इसके बाद प्रतिहारी ने राजकुमारी चन्द्रलेखा को मुग्धावस्था को प्राप्त वसन्त की शोभा द्वारा भ्रमरी के आम की मञ्जरी पर जाने का मन रहने पर कनैल को दिखाने के समान, किसी दूसरे राजा को दिखाया।

आश्रम व्यवस्था–

आश्रमों में 'गृहस्थाश्रम' ने काफी पहले महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था क्योंकि समाज का मेरुदण्ड वही था। इस काल में भी उसने अपना वह स्थान सुरक्षित रखा। नागै के अभिलेख में कालिदास दण्डनायक की सद्गृहस्थ के रूप में प्रशंसा करते हुए एक श्लोक आया है। इसका उदाहरण दिया जा सकता है। गृहस्थ के रुप में उसका जीवन संसार भर में सबसे पवित्र था। इसकी धर्मपरायण आत्मा सदा ब्राह्मणों को संतुष्ट करने, यज्ञ, देवपूजा और पितरों को प्रसन्न करने में, अतिथि सत्कार करने और पितरों को प्रसन्न करने में, अतिथि सत्कार करने और लोक और शास्त्र में वर्णित दैनिक और विशेष अवसरों के लिए निर्धारित अनुष्ठान करने में लीन रहती थी।

गृहस्थ आश्रम के वर्णन के विषय में विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित आश्रम के महत्त्व का चित्रण प्रस्तुत है–

---

१. विक्रम. नवम सर्गः ६३

"अथ समुचिते कर्मण्यास्थापरेण पुरोधसा
कथितमवनीनाथः सर्वं विधाय विधानवित्।
प्रतिमुहुरसौ सूनुस्पर्शान्महोत्सवमन्वभू
दिह हि गृहिणां गार्हस्थस्य प्रधानमिदं फलम्।।[1]

पुत्र जन्म होने के अनन्तर शास्त्रीय विधियों को जानने वाले उस राजा ने श्रृद्धालु कुल पुरोहित द्वारा कथित पुत्र जन्म के लिए उचित सब जातकर्म आदि धर्म कृत्यों को विधिवत् कर पुत्र–देह के प्रत्येक स्पर्श के अवसर से बार–बार परम आनन्द का अनुभव किया क्योंकि इस संसार में गृहस्थाश्रम में रहने वालों के लिए गार्हस्थ धर्म का पुत्र प्राप्ति ही मुख्य फल है।

ऋणों से मुक्ति के लिए गृहस्थ को गृहस्थाश्रम जनित कर्म तथा आश्रमोचित कर्म न करने से होने वाली हानियों के संदर्भ में कहा गया है।

किमश्वमेधप्रभृतिक्रियाक्रमैः सुतोऽस्ति चेन्नोभयलोक बान्धवः।
ऋणं पितृणामपनेतुमक्षमाः कथं लभन्ते गृहमेधिनः शुभम्।।[2]

यदि इस लोक और परलोक दोनों में साथ देनेवाला पुत्र न हुआ तो अश्वमेध आदि यज्ञों के करने से क्या लाभ है। पितृऋण से मुक्त होने में असमर्थ गृहस्थ लोगों का कैसे कल्याण हो सकता है।

पुंसवन, सीमन्तोनयन आदि संस्कारों की प्रतिष्ठा एवं उनकी सामाजिक स्वीकार्यता का वर्णन करने वाला श्लोक प्रस्तुत है–

---

१. **विक्रम. द्वितीय सर्गः ६१**
२. **विक्रम. द्वितीय सर्गः ३४**

कृतेषु सर्वेष्वथ शास्त्रवर्त्मना यथाक्रमं पुंसवनादि कर्मसु
विशेषचिन्हैर्निजमीशितुः क्षितेर्वधूः समासन्नफलंन्यवेदयत्।[1]

इसके अनन्तर पृथ्वी के स्वामी की स्त्री रानी ने धर्मशास्त्र के अनुसार क्रम से पुंसवन, सीमन्तोन्नयन प्रभृत संस्कारों के सम्पादित होने पर, विशेष लक्षणों से, शीघ्र होने वाले अपने पुत्र रुप फल की सूचना दी।

परिवार का स्वरूप–

परिवार एकतंत्र आनुवांशिक प्रणाली पर आधारित था। आमतौर पर राजा के बाद उसका सबसे बड़ा बेटा राजा होता था। विक्रमादित्य पञ्चम और उसके भाई गद्दी पर इसलिए बैठे थे क्योंकि इरिव–बेदंग के कोई पुत्र न था। यहाँ तक की विक्रमादित्य षष्ठम् ने भी, जिसने अपने बड़े भाई से युद्ध किया था सिंहासन पर सबसे बड़े भाई के उत्तराधिकार को चुनौती नहीं दी थी।

सामान्यतः बड़ा भाई ही उत्तराधिकारी बनता था। परिवार में वरिष्ठ या ज्येष्ठ पुत्र ही मुख्यिा बनता था। वही परिवार के भरण पोषण देखरेख आदि कर्त्तव्यों का निर्वाह करता था। ज्येष्ठ पुत्र ही परिवार की देखरेख के साथ राज्य पाने का अधिकारी भी बनता था, जैसा कि इस संबंध में स्वंय बिल्हण कहते है–

'विचारचातुर्यमपाकरोति तातस्य भूयान्मयि पक्षपातः।
ज्येष्ठे तनुजे सति सोमदेवे न यौवराज्येऽस्तिममाधिकारः।।[2]

इस महाकाव्य में प्राप्त 'कुल शब्द' के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इस

---

१. विक्रम. द्वितीय सर्गः ७८
२. विक्रम. तृतीयः सर्गः, ३५

युग में सम्मिलित परिवार प्रथा प्रचलित थी परिवार में माता–पिता, भाई–बहन, पति–पत्नी, पुत्र–पुत्रवधू आदि सभी सदस्यों की मुख्य भूमिकायें महत्त्वपूर्ण थी। छोटा भाई बड़े भाई के लिए त्याग करता था यह आदर्श रामायण काल से प्रारम्भ हुआ और इस युग तक अक्षुण्ण बना रहा। विक्रमाङ्कदेव अपने ज्येष्ठ भ्राता सोमेश्वर के लिए राजलक्ष्मी का त्याग करते हैं क्योंकि यही न्यायोचित था वह दिग्भ्रमित अपने पिता को परामर्श देते हुए कहते हैं कि 'यदि मैं अपने बड़े भाई सोमदेव को क्रमप्राप्त राजलक्ष्मी के न प्राप्त होने से उदास बनाकर स्वयं लक्ष्मी के प्रेम में तत्पर हो जाऊँ, तो अन्याय युक्त कार्य करने में तत्पर, मैंने ही इस शुद्ध चालुक्य वंश में कलंक लगाया और क्या अन्याय का कार्य हो सकता है?'

राजाओं के वंशावलियों का चित्रण करना ही इस काव्य का मुख्य विषय होने के कारण परिवार का विस्तृत वर्णन इस महाकाव्य में नहीं प्राप्त होता। परिवार के प्रत्येक सदस्य अन्य किस प्रकार से पारिवारिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करते थे इसका भी उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।

विवाह–

११वीं शताब्दी में विवाह प्रथा के विषय में जो भी जानकारी उपलब्ध है उसमें विक्रमाङ्कदेव के श्रोत ही मुख्य है, तथा उन्हीं के आधार पर हम वैवाहिक–विधियों का उल्लेख करेंगे। यद्यपि राजा युद्ध की विजयों के फलस्वरूप विजय की स्मृति में पराजित राजा की पुत्री या बहन से विवाह कर लेता था तथापि कभी–कभी राजनैतिक लाभ के लिए भी वैवाहिक संबंध स्थापित किये जाते थे तथा ये वैवाहिक संबंध कभी–कभी आर्थिक, राजनैतिक, तथा सीमा सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण

सिद्ध होते थे। चोल देश के राजा के साथ वैवाहिक संबंध बनाकर कल्याणी नरेश विक्रमाङ्कदेव ने उस समय के सबसे बहादुर नरेश को अपने रिश्तों के बंधन में बाँधकर निःशंक राज्य करने का मार्ग प्रशस्त किया था।

स्वयंवर प्रथा–

सामान्यतः उच्च वर में विवाह की स्वयंवर प्रथा प्रचलित थी स्वयंवर के माध्यम से ही कन्या वर का चयन करती थी। इसमें कई देशों से विवाह के इच्छुक बहादुर राजा पुत्री के पिता की ओर से आमंत्रित किए जाते थे तथा उनमें आए हुए सभी राजाओं में सर्वश्रेष्ठ का चयन कन्या द्वारा वरमाला पहनाकर किया जाता था। बिल्हण ने अपनें ग्रंथ में स्वयंवर पूर्वक विवाह का वर्णन किया है–

लज्जानिरासे निभमात्रकेण वाक्येन तेन प्रतिहाररक्ष्याः।
पतिंवरा संवरणस्रजं तां श्रीविक्रमाङ्कस्य चकार कण्ठे।।[1]

"स्वयंवर उत्सव में पति को चुननेवाली चन्दलदेवी ने लज्जा को दूर करने में मिषमात्र प्रतिहारी के पूर्वोक्त वचन से उस स्वयंवर की माला को विक्रमाङ्कदेव के गले में पहना दिया अर्थात् विक्रमाङ्कदेव को देखते ही उसकी लज्जा दूर हो गई थी। दूती का वचन केवल लज्जा दूर करने में मिषमात्र हुआ।"

स्वयंवर में राजा द्वारा कन्या को स्वयंवरपूर्वक विजित करना राजा के पुरूषार्थ व पराक्रम का परिचायक माना जाता था तथा राजा के इस पुरूषार्थ सिद्धि पर ढोल नगाड़े पीटकर उसका सम्मान किया जाता था। जैसे कि स्वयं बिल्हण ने

---

१. विक्रम. नवमः सर्गः १४७

लिखा है–

'तया स्रजा कण्ठनिवेशभाजा मत्तालिमालाकलझाङ्कृतेन।
अवाद्यतेवाखिलभूमिपाल–सौभाग्यलीलाजयडिण्डिमोऽस्य' ।।[1]

"विक्रमाङ्कदेव के गले में स्थान प्राप्त करने वाली उस स्वयंवरमाला ने मदोन्मत्त भ्रमरों की पक्ति के सुन्दर झंकारों से मानों समग्र राजाओं की सौभाग्यलीला पर विक्रमाङ्कदेव के विजय प्राप्त करने का नगाड़ा पीटा।"

इस प्रकार स्वयंवर का वर्णन इस महाकाव्य में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन नरेशों में यह विवाह की मुख्य विधि थी।

स्वयंवर चित्रण–

विवाह के संदर्भ में स्वंयवर का महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजकुमारियों के विवाह के निमित राजागण (उनके पिता) भिन्न–भिन्न देशों से राजाओं को आमंत्रित करते थे तथा पुत्री विवाह हेतु विशाल स्वंयवर समारोह की आयोजना करते थे। इस प्रकार वैवाहिक कार्यक्रम समारोह पूर्वक सम्पन्न करने की परम्परा थी। कुन्तल राजा ने अपनी पुत्री चन्दलदेवी के विवाह के लिए विशाल स्वयंवर की संरचना की थी। जैसा कि बिल्हण ने स्वयं लिखा है–

'स्वयंवरस्यावसरोऽपि जातः प्रसीद भूपाल कुरू प्रयाणम्।
असौ जयश्रीरिव ते द्वितीया सर्वान्विनिर्धूय वधूत्वमेतु।।'[2]

---

१. विक्रम. नवमः सर्गः १४८
२. विक्रम. नवमः सर्गः ३८

"हे राजा! स्वयंवर का दिन भी आ गया है। कृपा करिये। स्वयंवर के लिए प्रस्थान कीजिए। यह चन्दलदेवी दूसरी विजयलक्ष्मी के समान स्वयंवर में उपस्थित सब राजाओं का तिरस्कार कर आपकी भार्या बने।"

'प्रणम्य तेनाथ निवेद्यमान–मार्गः कृता शेषयथोचितेन।
श्रीकुन्तलेन्द्रः प्रविवेश भूमिं स्वयम्वरोत्कण्ठितराजचक्राम्।।"[1]

बहुविवाह प्रथा–

इस युग में समाज में बहुविवाह प्रथा खूब प्रचलित थी। राजाओं के राजमहलों के अन्तःपुर में अनेक रानियों की स्थिति का वर्णन यत्र–तत्र इस काल के कुछ साहित्यिक तथा कुछ अभिलेखीय प्रमाणों से ज्ञात होता है। इससे स्पष्ट है कि राजागण एकाधिक विवाह करते थे। विक्रमाङ्कदेवचरितम् के नायक विक्रमादित्य षष्ठ ने स्वयं अनेक विवाह किए थे जिनमें अक्कादेवी का उल्लेख युद्धों तथा सैन्य–संचालन के लिए, केतल देवी का एक विदुषी तथा संगीत में निपुण रानी के रूप में, चन्दल देवी के स्वयंवर का विषद वर्णन विक्रमाङ्कदेवचरितम् के नवम् सर्ग में मिलता है। चोलराज की पुत्री से विवाह तत्कालीन राजाओं के बहुविवाह का प्रमाण है। विक्रमाङ्कदेव के अनेक रानियों का चित्रण करते हुए बिल्हण ने लिखा है–

'नेत्राणि धात्रीतिलकाङ्गनानां तरङ्गलेखाहृतकज्जलानि।
शाणोपलान्दोलननिष्कलङ्क–कामास्त्रमैत्रीं कलयागबभूवुः।।[2]

"पृथ्वी के आभूषण रूप राजा विक्रमाङ्कदेव की स्त्रियों की, वापी में स्नान

१. विक्रमः नवमः सर्गः ४२ से लेकर सर्गान्त १५१ तक स्वयंवर वर्णन ही है।
२. विक्रम. द्वादशः सर्गः ७४

करने से वापी की लहरों से मिटाए गए कज्जलों वाली आँखें, सान पर रगड़ने से साफ तथा तीक्ष्ण कामदेव के अस्त्रों की समानता करने लगीं।"

कभी–कभी राजागण अपने स्वार्थपूर्ति या अपने राजनैतिक हित को ध्यान में रखकर भी एकाधिक विवाह कर लेते थे, जैसाकि विक्रमाङ्कदेव ने स्वयं अपने राजनैतिक लाभ अर्थात् अपने राज्य की दक्षिणी सीमा को सुरक्षित करने के लिए चोल नरेश की पुत्री से विवाह किया। उस समय चोल नरेश कल्याणी के चालुक्यों का सर्वाधिक सशक्त सीमावर्ती राज्य था, उससे वैवाहिक संबंध होने से उससे आक्रमण का भय समाप्त हो गया।

इस प्रकार बहुविवाह प्रथा राजाओं में सर्वप्रसिद्ध थी।

समाज में नारी का स्थान–

भारत के इतिहास में विभिन्न कालों में विभिन्न स्थानों में नारी का स्थान परिस्थितियों के अनुरूप अलग–अलग रहा है। कल्याणी के चालुक्यों के काल में बादामी के चालुक्यों की ही भाँति सामाजिक स्थिति सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों के भाग लेने के अनुकूल थी, कम से कम समाज के उच्च वर्गों में तो यही स्थिति थी।

कतिपय स्त्रियों का चित्रण उल्लेखनीय है जिननें सबसे ऊँचा स्थान अक्कादेवी का है। यह महिला युद्धों में भाग लेती थी, और सेना का संचालन भी करती थी। १०८४ ई० के 'सूडि के अभिलेख' में विक्रमादित्य षष्ठम् की रानी लक्ष्मा देवी का उल्लेख कल्याणी में उसी प्रकार शासन करते हुआ है जैसे स्वयं सम्राट का। किन्तु इससे पहले रानी के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ, इनमें– इन्दीवरलोचना,

सुदृशः, सूरांगना[1] आदि है।

इससे यही अनुमान होता है कि लक्ष्मादेवी में सभी गुण थे जिनके कारण वे महलों की शोभा बढ़ाती थी और जिन गुणों के कारण वह राजा का स्नेह पाने वालियों म्रे प्रथम स्थान प्राप्त की थी। इस प्रकार उसने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को सुरक्षित बनाये रखा था। वह सुन्दर थी, यौवन से भरपूर थी, सभी कलाओं में निपुण थी, धर्मपरायणा थी, और पुण्यात्मा थी. जिसके कारण जनता उसे प्यार करती थी।

इस युग में स्त्रियाँ पति–परायणा होती थी। पति के सुख–दुःख में बराबर की भागीदारी रखती थी। पति के तपश्चर्या के निमित्त वन जाने पर स्वयं भी वनगमन करती थी, और उनके धार्मिक कृत्यों में सहायता करती थी, जैसे तपस्या हेतु आहवमल्लदेव के वनगमन करते समय उनकी पत्नी ने पुत्र प्राप्ति के लिए तपस्या करते समय उनकी यथाशक्ति सेवा की। उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम नारी को अभीष्ट प्राप्ति हेतु कठोर आध्यात्मिक कृत्य में प्रवृत्त पाते हैं जो नारी की उच्च इच्छा शक्ति वाली होने का परिचायक है। बिल्हण ने तपश्चर्या में प्रवृत्त आहवमल्ल की रानी द्वारा की जाने वाली सेवाओं का वर्णन किया है–

'नृपं कठोरव्रतचर्यया कृशं समाहिता सा नरनाथसुन्दरी।
निशातशाणोल्लिखितं समन्वगात् प्रभेव माणिक्यमतीव निर्मला।'[2]

एक अन्य उल्लेख भी प्रासङ्गिक है–

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम्।
२. विक्रम. द्वितीय सर्गः ४६

'सिद्धैरध्यासिततटभुवः स्नाततसप्तर्षिहस्त–
न्यस्तभ्राम्यात्तिलतिलकितस्रोतसो मानसस्य।
यत्कान्ताभिः शिरसि विधृताः सारसौभाग्यालोभात्
कैलासस्थतिनयनवध धूक्षालिताङ्गास्तरङ्गा।'[1]

इस समय तक कुछ स्त्रियों में इतनी चातुरी आ गई थी कि वह अपनी प्रतिद्वन्द्विनी सभी महिलाओं को नीचा दिखा सकती थी। क्या इस प्रकार की महिलाएँ सार्वजनिक कार्यो को प्रभावित कर सकती थी? यदि हाँ तो किस सीमा तक और किस रूप में।

इन प्रश्नों का उत्तर आसानी से नहीं दिया जा सकता किन्तु बिल्हण की रचना के आलोक में इन पर प्रकाश डाला जा सकता है। इस युग तक राजकुमारों को जो शिक्षा दी जाती थी उसमें स्त्रियों के दुर्गुण पर व्याख्यान अवश्य दिए जाते थे। विक्रमादित्य की एक अन्य रानी केतलदेवी बड़ी विदुषी और संगीत में निपुण थी। सामन्तों में होयसल बल्लाल प्रथम की तीनों रानियाँ पद्मलदेवी, चावलीदेवी, और वोप्पदेवी, नृत्य और संगीत में निष्णात् थी। इस समय तक स्त्रियाँ राजनीति के क्षेत्र में भी भाग लेने लगी थी एवं शासन की देखरेख में सहयोग करने लगी थी, जैसे–

'तथेति देव्या कृतसम्मतिस्ततः समस्तचिन्तां विनिवेश्य मन्त्रिषु।
अभूदनुष्ठानविशेषतत्परः स पार्थिवः प्रार्थितवस्तुसिद्धये।।'[2]

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित चन्द्रलेखा की गायन एवं नर्तनकला का सुन्दर उदाहरणं प्रस्तुत है–

---

१. विक्रम. अष्टादशः सर्गः ३६
२. विक्रम. द्वितीयः सर्गः ४३

"लास्याभ्यासमिषेण चित्रमनया गात्रार्पणं शिक्षितं।
लीलापञ्चमदोलनेन दलिता कण्ठस्य कुण्ठा गतिः।।
किं वा वर्णनया समस्तलटभालङ्कारतामेष्यति।
स्वल्पेनैव परिश्रमेण रमणी देवस्य रामागुरोः।।"[1]

कलचुरि सोविदेव की रानी सावलिदेवी इन कलाओं में निपुण तो थी ही, साथ ही वह अपनी कलाओं का प्रदर्शन भी करती थी। यह स्त्री स्वातंत्र्य का उदाहरण है जो उस काल के लिए एक सामान्य सी बात है। बतलाया गया है कि उसने एक ऐसी सभा में अपनी कला का प्रदर्शन किया था जिसमें उसके देश के ही नहीं बल्कि विदेशों के भी कलामर्मज्ञ एकत्र हुए थे। उसने अपनी कला से श्रोताओं एवं स्वयं सम्राट का मनमोह लिया था। संगीत तो उसकी घुट्टी में था।

उसका भाई ब्रह्मवीणा के ताल और लय का आचार्य था। एक अन्य कुलीन महिला का परिचय यहाँ देना प्रासङ्गिक है।

त्रिभुवनमल्लमल्लिदेव चोल महाराज की रानी लक्ष्मादेवी ने पट्टमहिषी के रूप में राजा के साथ शासन किया था। वह काव्य में निपुण थी साथ ही मधुर कण्ठ, वाद्य–संगीत और नृत्य में भी पटु थी, वह पार्वती के चरणकमलों की सतत् उपासिका थी। उसने इतने दान दिए थे कि संकल्प के जल से उसके आसपास की भूमि सदा भीगी रहती थी। उसने कवियों, शास्त्रार्थियों, और चारणों को (दान देकर) प्रसन्न किया था। वह चलती थी तो उसके नूपरों की कलध्वनि से आकर्षित हो राजहंस उसके पास खिंचे चले जाते थे। वह अपनी कलाइयों, बाहुओं, पैरों और केशों में रत्नजटित आभूषण धारण करती थी।

---

१ विक्रम. अष्टमः सर्गः ८७

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित नृत्यकला का वर्णन दृष्टव्य है–

'लास्यं त्वयि प्रेक्षितुमागतायांलतापुञ्ज्यः कुसुमैः पतद्भिः।
मृगाक्षि लीलावनरङ्गपीठे पुष्पाञ्जलिक्षेपमिवोद्वहन्ति।।'[1]

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में नारियों के संगीत नैपुण्य का अनेक स्थलों पर वर्णन मिलता है–

'पुंस्कोकिलस्ते मधुमासलक्ष्म्या गान्धर्वसर्वस्वविशारदायाः।
प्रकाशितुं शिष्य इवैष पश्य रागं मुहुः पञ्चममातनोति।।'[2]

बिल्हण ने अपने नायक विक्रमादित्य द्वारा कमल सरोवरों, प्रमदवनों में तथा झूले पर कामिनियों के साथ केलि का विशद वर्णन किया है किन्तु वह उस काल के दरबारी जीवन का वास्तविक चित्र नहीं है। यहाँ तक कि अभिलेखों में रानियों और कुलीन महिलाओं के गुणों का जो आलंकारिक वर्णन आया है, इसे भी हम यथावत सही नहीं मान सकते किन्तु इसके पर्याप्त प्रमाण प्राप्त है जिनमें यह सिद्ध होता है कि स्त्रियों के लिए ललित शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध था और हर पीढ़ी में वे इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करती थी। कामिनियों के झूलने एवं केलि का वर्णन प्रस्तुत है–

---

१. विक्रम. दशमः सर्गः २३
२. विक्रम. दशमः सर्गः २६

'दोलायां जघनस्थलेन चलता लोलेक्षणा लज्जते
धत्ते दिक्षु निरीक्षणं स्मितमुखी पारावतानां रूतैः।
स्पर्शः कण्टक कोटिभिः कुटिलया लीलावने नेष्यते
सज्जं मौग्ध्यविसर्जनाय सुतनोः शृङ्गारमित्रं वयः।।'[1]

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित ललितकला में नारियों की दक्षता का वर्णन प्रस्तुत है–

इस प्रकार जहाँ खेलकूद स्वास्थ्य की दृष्टि से लाभकारी थे, वहीं पर वे मनोरंजन के उत्तम साधन भी सिद्ध होते थे।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में शतरंज, चौपड़ आदि खेलों के भी खेले जाने के प्रमाण मिलते हैं। ये एक अंतः क्षेत्र (Indoor) खेल होता था जिसमें घर की महिलाएं विशेष रूचि लेती थी।

"गण्डे मण्डनमात्मनैव कुरूते वैदग्ध्यगर्वादसौ,
त्यक्त्वा हेमविभूषणानि तनुते ताड़ीदलेष्वाग्रहम्।।
मन्दा कन्दुकखेलनाय भजते सारीषु शिक्षारसं,
तन्व्या चित्रमकाण्ड एव लटभाभावे निबद्धो भरः।।"[2]

"यह चन्द्रलेखा अपनी चतुराई के अभिमान से अपने हाथ से ही अपने गालों पर चित्रकारी करती है। सोने के बने आभूषणों को छोड़कर ताल के पत्तों को आभूषण के रूप में धारण करने में आग्रह करती है। स्तन, नितम्ब आदि के बोझ से गेंद खेलने में असमर्थ होकर शतरंज, चौपड़ आदि बैठकर खेले जाने वाले खेलों को

---

१. विक्रम. अष्टमः सर्गः ८६
२. विक्रम. अष्टमः सर्गः ८२

सीखने की अभिरूचि दिखती है। स्थूल शरीर वाली चन्द्रलेखा ने अचानक ही सुन्दरी स्त्री के कर्त्तव्यों में जिद पकड़ ली, यह आश्यर्च है अर्थात् सुन्दरी स्त्रियां जैसा अपना श्रृंगार आदि करती है वैसा ही वह भी करने लगी।"

संगीत – नृत्यंगीतं वाद्यं च त्रयमेतत् सङ्गीतकम्।

नर्तन, गायन एवं वादन प्राचीन काल से सर्वसुलभ मनोरंजन के प्रमुख साधन रहे है। यद्यपि समय–समय पर इसमें विकास एवं परिवर्तन आता रहा फिर भी संगीत का विकसित एवं प्राचीन रूप जन–सामान्य में मनोरंजन का साधन बना रहा। मनोरंजन के निमित्त संगीत की शिक्षा प्राप्त करना तथा मनोरंजनार्थ संगीत का प्रदर्शन करना कुछ लोगों का व्यवसाय बन गया था। जैसे- नर्तकियाँ एवं वेश्याएँ भी नृत्यादि पूर्वक अपना मनोरंजन करती थी। बिल्हण के ग्रंथ में इसके प्रमाण मिलते है–

"पुरन्ध्रिनृत्येषु विनिर्यदंशुभिः प्रसर्पदानन्दजलैरिवेक्षणैः।
श्रियं सजीवा इव यत्र सन्ततं वहन्ति रत्नोत्करशालभञ्जिकाः।।"[1]
"वितानरत्नप्रतिबिम्बडम्बरैर्वहन्ति यत्प्राङ्गणसीम्नि लासिकाः।
अवाप्तविद्याधरराजसुन्दरी पदा इव व्योम्नि विहर्तुमुद्यताः।।[2]

मनोरंजन–

ग्यारहवीं शताब्दी में मनोरंजन के साधनों में किसी नवीन आविष्कार का उल्लेख नहीं मिलता है। मनोरंजन के साधन लगभग परम्परागत ही थे। जहाँ पर

---

१. विक्रम. सप्तदशः सर्गः २०
२. विक्रम. सप्तदशः सर्गः २१

निम्नवर्गीय समाज में बंदरों को नचाकर, मुर्गे लड़ाकर तथा क्षेत्रीय स्तर पर गायन, वादन आदि के द्वारा मनोरंजन किया जाता था वहीं पर सम्पन्न वर्ग में तोते पालना, वेश्याओं तथा नर्तकियों के नर्तन से मनोरंजन किया जाता था।

शुक– राजमहलों में शुक पाले जाने का प्रायः वर्णन मिलता है। शुक पालन जन सामान्य में प्रचलित था। सुग्गे को मनोरंजनार्थ पाला जाता था, ये मधुर आवाज में सुन्दर वचन बोलते थे। कभी–कभी ये शुक सन्मार्ग का उपदेश देते हुए भी पाए गए हैं। वैसे सुग्गे की आवाज जन सामान्य के लिए कर्ण प्रिय थी। बिल्हण ने अपने ग्रंथ में उसकी कर्णप्रियता का वर्णन किया है–

> वागुन्मीलति भिन्नषड्जललिता लीलाशुकानामपि,
>
> क्रोडे दन्तकरण्डपाण्डुरतनोर्मग्ना विधोश्चन्द्रिका।
>
> पूर्वाशामुखमण्डनत्वमचिराच्चण्डांशुरायास्यति,
>
> द्रागुन्मुद्रय देवि पङ्कजदलच्छायाञ्चले लोचने।'[1]

खेलकूद–

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में खेलकूद के विषय में विस्तृत सामग्री तो नहीं मिलती लेकिन फिर भी खेल सामाजिक मनोरंजन का अंग अवश्य था। घोड़े की पीठ पर बैठकर खेले जाने वाले गेंद के एक खेल का कभी–कभी उल्लेख अभिलेखों में मिलता है। इसके ठीक–ठीक स्वरूप का पता नहीं है, किन्तु यह एक प्रकार का पोलो खेल था। अभिलेखों में नागदेव और मधुसूदन को कंदुक पुरन्दर' कहा गया

---

१. विक्रम. एकादशः सर्गः ७५.

है। इसी खेल का श्रवण बेलगोला के एक अभिलेख में विस्तृत वर्णन है। यह खेल राष्ट्र–कूट राजा इन्द्र चतुर्थ के शासन काल (९७२ ई०) का है। चोल अभिलेखों में राजाधिराज चोल के बारे में कहा है कि उसने पड्डूर के युद्ध के बाद चालुक्य सेनापतियों और सरदारों के साथ एतगिरि में 'सेंडू' का खेल खेला था।[1]

'गण्डे मण्डनमात्मनैव कुरूते वैदग्ध्यगर्वादसौ,
त्यक्त्वा हेमविभूषणानि तनुते ताडीदलेष्वाग्रहम्।
मन्दा कन्दुकखेलनाय भजते सारीषु शिक्षारसं
तन्व्या चित्रमकाण्ड एव लटभाभावे निबद्धो भरः।।'[2]

उच्च वर्ग की ऐसी महिलाओं के अतिरिक्त सुलेयर गणिका भी थी जो संगीत और नृत्य का अभ्यास भी करती थी। इनकी संख्या पर्याप्त थी और ये बड़े नगरों के जीवन को सरस बनाती थी। मंदिरों में पूजा के समय और विभिन्न अवसरों पर उनके संगीत के कार्यक्रम होते थे। ये इन कलाओं में पारंगत होती थी इन्हें अन्य महिलाओं की अपेक्षा समाज में बड़ी छूट मिली हुई थी। समाज के अन्यथा नीरस जीवन में अपनी उपस्थिति से रस का संचार करती थी।

वेश्याओं के वर्णन का चित्र जो विक्रमाङ्कदेवचरितम् में गणिकोचित कर्म की याद दिलाता है–

'यान्तीषु यद्वारविलासिनीषु करेणुभिः पूरितदिक्तटाभिः।
दिनेऽपि दिक्पालपुरीगवाक्षाः प्रक्षालनं चन्द्रिकया लभन्ते।।'[3]

वेश्याओं की क्रीडा के वर्णन का मनोरम वर्णन प्रस्तुत है–

---

१. दकन का प्राचीन इतिहास– जी. याजदानी
२. विक्रम. अष्टमः सर्गः ८२
३. विक्रम. नवमः सर्गः १२७

'क्रीडन्समुत्सारितवारनारी– मञ्जीरनादागतराजहंसः।
एकः क्षितेः पालयिता भविष्यन् स राजहंसासहनत्वमूचे।।'[1]

स्त्रियों की स्थिति के विषय में ये कहा जा सकता है कि उन्हें समाज में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी, और उनकी दक्षता हर क्षेत्र में व्याप्त थी। पारिवारिक दृष्टि से वह पत्नी, माता एवं भगिनी के दायित्व का निर्वाह करती थी। राजनैतिक दृष्टि से वे न केवल अपने पतियों के साथ युद्ध स्थल में सहायता हेतु ही जाती थी अपितु अवसर पड़ने पर स्वयं युद्ध भी करती थी। धार्मिक दृष्टि से स्त्रियां पति के धर्माचरण में पूर्ण सहयोग देती थी और कला की दृष्टि से वे गीत, नृत्य में प्रवीण थी। इस प्रकार नारी के सर्वांगीण विकास के चित्र इस महाकाव्य में प्राप्त होते हैं।

वाहन–

बैलगाड़ी–

११वीं शताब्दीं में जहाँ पर मध्यम–उच्च वर्ग एवं उच्च वर्ग के द्वारा साधन के रूप में घोड़े और हाथी का प्रयोग होता था, वहीं पर निम्न वर्ग एवं निम्न मध्यम वर्ग के मध्य बैलगाड़ी प्रमुख साधन के रूप में प्रयोज्य था। दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति, उनके परिवहन, वस्तुओं के व्यापार, आवागमन आदि के लिए एवं समाज के उपर्युक्त क्रियाकलापों हेतु बैलगाड़ी मेरुरज्जुवत थी। जहाँ पर दैनन्दिन कार्य सम्पन्न करने में बैलगाड़ी की अहम् भूमिका थी वहीं पर बैलगाड़ी से ढुलाई कर बैलगाड़ी को कुछ लोग अपने जीविकोपार्जन के साधन के रूप में इसे प्रयोग करते थे।

---

१. विक्रम. तृतीय सर्गः १४

तकनीकी और तत्प्रयुक्त सामग्री सामान्य जन द्वारा सरलतया उपलब्ध एवं ग्राह्य थी। अस्तु इसके उत्पादन हेतु सामान्य जन को अन्यत्र आश्रित रहना पड़ता था। वे स्वयं बैलगाड़ी को तैयार कर लेते थे।

'उदञ्चयन्किंशुकपुष्पसूचीः सलीलमाधूतलताकशाग्रः।
वियोगिनां निग्रहणाय सज्जः कामाज्ञया दक्षिणमारूतोऽभूत्।।'[1]

अश्व—

जहाँ पर बैलगाड़ी सामान्य जन द्वारा प्रयोग किया जाने वाला अहम साधन था, वहीं पर उच्च वर्गीय समाज में आवागमन, युद्ध क्रिया आदि के लिए घोड़े और हाथी का प्रयोग किया जाता था। घोड़े का प्रयोग तीव्र गति से यातायात, कम समय में आवागमन, सेना का आकस्मिक हमला आदि के लिए किया जाता था।

राजा, सामन्तों तथा उच्चवर्गीय लोगों के द्वारा सर्वाधिक प्रयोग घोड़े का होता था। प्राचीन काल से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी में आवागमन के मुख्य साधन के रूप में घोड़े का ही उपयोग होता रहा। घोड़े की इसी उपयोगिता के कारण देश में अश्व पालन के अतिरिक्त उत्तम नस्ल के घोड़े बाहर से भी आयात किये जाते थे। राजा विक्रमाङ्कदेव के द्वारा बड़े पैमाने पर घोड़े का प्रयोग किया गया था। जैसा कि बिल्हण ने काबुल से आयातित उत्तम नस्ल के घोड़ों का स्वयं वर्णन किया है—

---

१. विक्रम. सप्तमः सर्गः ५२

'निशम्य तुक्खारखुरक्षतायाः क्षितेस्तनुत्वादिव यस्य कीर्तिम्।
सम्भूय गायन्ति फणीन्द्रकन्याः संगीतशालासु भुजङ्गभर्तुः।।'[1]

"काबुली घोड़ों की टापों से खुदी पृथ्वी के मानों छिल जाने के कारण पतली हो जाने से और पृथ्वी के खुद जाने से नागलोक का विशेष अन्तर न रहने से (नागलोक में प्रविष्ट) गुर्जर देश के राजा की कीर्ति को सुनकर नागकन्याएँ नागराज की संगीत शालाओं में, उसकी कीर्ति का एकत्र होकर गान करती हैं। अर्थात् गुर्जर देश के राजा की पल्टन में काबुली घोडे थे जिनसे सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतकर उसने कीर्ति प्राप्त की थी।"

अश्वपालन व उनके रख रखाव पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था जिसका वर्णन करते हुए बिल्हण ने लिखा है–

'कुलिशकठिनलोहबन्धयोगान्निजगृहकुट्टिमवद्विलङ्घ्यतेस्म।
विशिखशकलकण्टकावतीर्णा रणखुरली खुरमण्डलैर्यदीयैः।।'[2]

"जिन घोड़ों के खुरों से, वज्र के समान कड़ी नॉल बंधी होने के कारण, बाणों के टुकड़े रूपी कांटो से आच्छादित युद्धभूमि, घुड़साल की फर्शबन्दी के समान लाँघी जाती थी अर्थात् घोड़े, खुरों में कड़ी नाल जड़ी होने के कारण आराम से घुड़साल की पक्की सतह पर चलने के समान बाणों के टुकड़े रूपी काँटो से आच्छादित रणभूमि पर भी आराम से चलते थे।

---

१. विक्रम. नवमः सर्गः ११६
२. विक्रम. षष्ठम्ः सर्गः ४६

हाथी—

हाथी का प्रयोग घोड़े की अपेक्षा अधिक भारवाहन, भयाक्रान्त करने वाले साधन तथा अन्य मालवाहक कार्यो के लिए किया जाता था। यद्यपि हस्तिपालन, उसका रखरखाव तथा उसका खान–खर्च आदि सर्वाधिक महँगा पड़ता था फिर भी राजा का प्रिय वाहन होने के कारण तथा सेना का मुख्य भाग (हस्तिसेना) होने के कारण हाथी का प्रयोग बहुतायत से होता था। राजा हाथी का प्रयोग अपने आवागमन हेतु तथा युद्ध में प्रायः करता था। विक्रमाङ्कदेव के द्वारा हाथी के प्रयोग का वर्णन प्रस्तुत है—

'अस्मरद्द्विरददानवारिणा तस्य वारिनिधिराविलीकृतः।
हन्त संततमदस्य विभ्रमानभ्रमुप्रियतमस्य दन्तिनः।।'[1]

"विक्रमाङ्कदेव के हाथियों के मदजल से मटमैला समुद्र, मद को सतत् चुवाने वाले अभ्रमु नाम की हथिनी के प्रियपति ऐरावत नाम के इन्द्र के हाथी का स्मरण करने लगा। उच्चैःश्रवा नामक इन्द्र के घोड़े के समान ऐरावत हाथी भी पहले समुद्र में ही था। बाद में समुद्र मन्थन से उत्पन्न दोनों को इन्द्र ने अपना वाहन बनाया।"

विक्रमाङ्कदेव द्वारा हाथी पर सवार होकर सैन्य संचालन एवं शत्रु सेना पर हमले का वर्णन बिल्हण ने बड़े मनोरम ढंग से किया है—

अहमहमिकया प्रधाविताभ्यां मिलितममुष्य बलं तयोर्बलाभ्याम्।
सलिलमभिमुखं सहाम्बुराशेस्तदनु महानदयोरिवोदकाभ्याम्।[2]

---

१. विक्रम. पञ्चम् सर्गः १६
२. विक्रम. षष्टमः सर्गः ६६

सामाजिक विश्वास–

बिल्हण द्वारा वर्णित समाज और सामाजिक मान्यताएँ जहाँ पर उत्तर भारत में बौद्ध व जैनधर्म के प्रभाव स्वरूप आत्मोत्सर्ग आदि कठोर नियमों में बदलाव व दुरूह सामाजिक बन्धनों में शिथिलता को दर्शाती है वही पर दक्षिण भारत में अभी भी सामाजिक अन्धविश्वास तथा वह मान्यताएँ दुरूह बनी हुई थी। तमाम सामाजिक विश्वास जो परम्परागत तौर पर अपनाये गये वह समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त थे। उनका विक्रमाङ्कदेवचरितम् में सम्यक्वर्णन मिलता है।

चिन्तामणि रत्न–

चिन्तामणि अभीष्ट वस्तु की याचना करने पर अभीष्ट वस्तु देता है। यह एक प्रकार का ख्याति प्राप्त रत्न था जिसके विषय में ऐसा विश्वास था कि इससे जो कुछ भी माँगा जाय उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। इस महाकाव्य में इस रत्न की तुलना राजा से की गई है। इस प्रकार यह रत्न सभी अभीष्टों की पूर्ति करने वाले रत्न के रूप में ज्ञेय है।

'चिन्तामणिर्यस्य पुरो वराकस्तथाहि वार्ता जनविश्रुतेयम्।
यत्तत्र सौवर्णतुलाधिरूढ़े चक्रे स पाषाणतुलाधिरोहम्।।'[1]

"जिस राजा की समता में चिन्तामणि रत्न भी किसी महत्त्व का नहीं था। इसीलिए यह बात लोक प्रसिद्ध है कि सुवर्ण पुरूष के दान में राजा सोने की तुला पर चढ़ता था किन्तु चिन्तामणि पत्थर (रत्न) तौलने की तुला पर तौला जाता था

---

१. विक्रम. प्रथमः सर्गः ६८

अर्थात् चिन्तामणि की तौल पत्थरों से होती थी और राजा की सोने से। (चिन्तामणि अभीष्टवस्तु की याचना करने पर अभीष्ट वस्तु देता है किन्तु यह राजा बिना याचना के ही अभीष्ट वस्तु देता था।"

सल्लेखन कर्म–

जैन धर्म में प्रचलित सल्लेखन कर्म जैन धर्मानुयायी आत्मोत्सर्ग द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हेतु करते थे तथा वे इससे समाज में अन्न जल को त्यागकर प्राणोत्सर्ग से मोक्ष की प्राप्ति का संदेश देते थे। इस प्रकार का सामाजिक विश्वास जैनधर्मावलम्बियों में बहुत दृढ़ था। इसका उल्लेख तत्कालीन 'अभिलेखों' में मिलता है। कभी–कभी तो लोग छोटे–मोटे कारणों से जिसे हम बचपना या अंधविश्वास कहेंगे, उनके कारण आत्म बलिदान कर देते थे।

जलाभिसिञ्चन–

कहीं–कहीं पर गङ्गाजल छिड़ककर पवित्र करने की भी परिपाटी थी। इस परिपाटी का उल्लेख प्रस्तुत है–

'यस्यासिरत्युच्छलता रराज धाराजलेनेव रणेषु धाम्ना।

दृप्तारिमातङ्गसहस्रसङ्गामभ्युक्ष्य गृह्णन्निव वैरिलक्ष्मीम्।।'[१]

जिस राजा की तलवार, युद्धों में ऊपर उठने वाले अपनी धार के जल के

---

१. विक्रम. १/२०४

समान तेज से मदोन्मन्त हजारों शत्रु रूपी हाथियों के अथवा हजारों शत्रु चाण्डालों के संसर्ग दोष से अपवित्र शत्रुओं की लक्ष्मी का मानो प्रोक्षण कर ग्रहण करती हुई शोभित हुई। अर्थात् अपवित्र शत्रुलक्ष्मी पर अपनी तेज धार का पानी छिड़क, उसे पवित्र कर उसका ग्रहण किया।

आत्मोत्सर्ग–

आत्मोत्सर्ग से जमीन द्विगुणित करने सम्बन्धी विश्वास का उल्लेख भी प्राप्त होता है। एक बार तो जमीन पर अपना अधिकार सिद्ध करने के लिए इस असंगत तरीके का इस्तेमाल भी किया गया था। दोनेकल्लु (अनन्तपुर जिला) के १०५६–६० ई. के एक अभिलेख में लिखा है कि दो ब्राह्मणों ने तीन 'गावुंडों' की कुछ भूमि पर जबर्दस्ती कब्जा कर लिया था। उस पर अपना अधिकार सिद्ध करने के लिए गावुंडों ने फैसला किया कि उनमें से एक आत्मबलिदान करेगा। इसके बदले उसके उत्तराधिकारियों को अतिरिक्त भाग मिलेगा। इस प्रकार उनमें से एक ने दोनों ब्राह्मणों के सामने पेट में छूरा भोंककर आत्महत्या कर ली। इस पर उन ब्राह्मणों ने वह जमीन छोड़ दी। पहले की तैयार की गई शर्त के अनुसार उसके वारिसों को उनके हिस्से से ज्यादा जमीन मिल गई। आधुनिक शब्दावली में यह 'सफल 'सत्याग्रह का एक अतिवादी उदाहरण' है।

सामाजिक विश्वासों के उल्लेख के क्रम में १०३६ ई. की उस घटना का जिक्र करना प्रासङ्गिक होगा जिसमें किसी ने प्रण को पूरा करने के लिए आत्मवध (वेलेवाक्य) के द्वारा कदंब राजा तैलप देव के साथ स्वर्ग जाने का व्रत लिया था।

"बोप्पन बेलेवाकियम निलिसि तैलपदेवन कूडे स्वर्गस्थान आगलू।"[1]

पुरूषों की भाँति स्त्रियों में सामाजिक विश्वासों के प्रति गहरी निष्ठा थी। वीर सोमेश्वर चतुर्थ की रानी लच्छल देवी की 'बेलेक्कार' बोका ने व्रत लिया था कि वह रानी के साथ मरेगी, और उसने राजा के शासन काल के पाँचवे वर्ष (११८५ ई०) में अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

सती प्रथा–

सती प्रथा यत्किञ्चित् रूप में समाज में प्रचलित थी। ११८० ई० के आसपास जब सिन्द राजमल्ल प्रथम के मंत्री बेचिराज की मृत्यु हुई तो उसके साथ उसकी दो पत्नियाँ वैलियक्क और मत्यनियक्क सती हुई थी। इससे करीब सौ साल पहले देकब्बे के 'सती' होने की घटना का बेलतूर के अभिलेख में बड़ा हृदयद्रावक वर्णन मिलता है। इस काल के कन्नड़ साहित्य के इतिहास में इस लेख का अपना स्थान है।

---

१. **दक्षिण भारत का इतिहास– डॉ० हरि नारायण दुबे।**

चतुर्थ अध्याय

आर्थिक दशा

भारतीय अर्थव्यवस्था वैदिक काल से लेकर आद्योपान्त कृषि, व्यापार, व उद्योग पर आधारित थी। दक्षिण भारतीय राजाओं और उनकी अर्थव्यवस्था का जहाँ भी जिक्र मिलता है चालुक्यों की अर्थव्यवस्था का वहाँ विशिष्ट उल्लेख हुआ होता है। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित सामग्री अल्परूप में मिलती है।

कृषि–

आज की भाँति उस काल में भी कृषि ही समाज की अर्थव्यवस्था का मेरूदण्ड थी। कृषि जल पर निर्भर थी। ऐसी नदियों की संख्या कम थी जो सदानीरा हों और नहरें निकालकर सिंचाई की जा सके। बरसात पूरे साल में रूक–रूककर कभी कम कभी अधिक होती थी। अतः स्थान–स्थान पर तालाब बनाकर पानी इकट्ठा किया जाता था। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि उस काल में इन तालाबों के रख–रखाव पर पूरा–पूरा ध्यान दिया जाता रहा होगा। विक्रमाङ्कदेव द्वारा निर्मित विशाल तालाब का वर्णन मिलता है सम्भव है कि ये तालाब किसी न किसी रूप में कृषि में सिंचाई हेतु प्रयुक्त होता रहा होगा।

"अकारयत्कारणमानुषःपुर–
स्तडागमेतस्य स रूद्धदिङ्मुखम्।
उपैति येनानुपमश्रिया तुला–
मसौ गत श्रीः कथमम्भसां निधिः।।"[1]

1. विक्रम. सप्तदशः सर्गः २२

कारण विशेष से मानव रूप धारण करने वाले राजा विक्रमाङ्कदेव ने उस मंदिर के आगे दिशाओं तक फैलने वाला अर्थात् बहुत बडा एक तालाब बनवाया था। अवर्णनीय शोभा वाले उस तालाब से लक्ष्मीरहित या शोभारहित समुद्र कैसे बराबरी कर सकता है।

इस ग्रन्थ में कृषि के लिए सिंचाई के साधन के रूप में अनके पक्के तालाबों का वर्णन प्राप्त होता है। अभिलेखों से मंदिरों के बाद इसी विषय का सबसे अधिक महत्त्व मालुम पड़ता है। होट्टूर के पास केम्गेरे (लाल तालाब) था। १०३७ ई० से इसके रखरखाव के लिए छह बोझ पान के पत्तों पर केन्द्रीय और स्थानीय अधिकारियों को जो कर मिलता था वह इसके लिए सुरक्षित कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त करीब १००० 'तंबुलिगों' को हिदायत कर दी गई थी कि हर बोझा पर एक 'बीस' (पण का) बिला नागा दिया करें।

बीजापुर जिले में मेंटूर में १०४१ ई० में स्थानीय राज्यपाल के नाम पर बनने वाले रट्टसमुद्र की खुदाई के लिए करों और जुर्माने से प्राप्त होने वाली आय का एक हिस्सा बाँध दिया गया था। केलवाड़ी (बादामी तालुक) के एक तालाब की मरम्मत के लिए १०५३ में २० मत्तर सिंचित भूमि और एक मकान का दान मिला था।

शिभोगा जिले के सोराब तालुक के १०७१ ई० के अभिलेख में एक ऐसी योजना का उल्लेख है जिसमें खेती के लिए नई जमीन के प्रयोग की बात है। इस जमीन की सिंचाई के लिए एक तालाब सेट्टिकेरे खोदा गया था और इस तालाब के रखरखाव के लिए अक्षय दान दिया गया था। दान का उल्लेख करते हुए बिल्हण ने

निम्न श्लोक दिया है–

"प्रदानलोभादिह भर्तुरस्यचेत् कदाचिदागच्छति कुम्भसम्भवः।
छिनद्मि तद्दर्पमितीव यस्तटत्रुटद्विटङ्कोर्मिरवेण गर्जति।।"[1]

'इस तालाब के मालिक राजा विक्रमाङ्कदेव से दान प्राप्त करने की अभिलाषा से यदि कदाचित् समुद्र को तीन आचमन में पी जाने वाले अगस्त्य मुनि आ जॉय तो मैं उनके घमण्ड को चूर कर दूँगा मानों इस हेतु से तटों से टकराने वाली ऊँची–ऊँची लहरों के शब्दों से गरज रहा है!'

अम्मेले (बेल्लारी) में ११०६ में 'हेरिकेरे' के रखरखाव के लिए चुंगी का दान दिया गया। बाल्गुली (बेल्लारी जिले में ही) दो तालाबों के रख–रखाव के लिए दान दिए गए। इसमें एक दान ११०७ ई० में और दूसरा ११८८ ई० में दिया गया था। ११३२ ई० में चिलमकारूं (कुडप्पा) में एक नया तालाब खुदवाया गया। हावेरी (धारवाण) के करणों ने ११५७ ई० में निश्चित नकद आय 'हिरियकेरे' तालाब के नाम की थी। यह तालाब राजा नल चक्रवर्ती द्वारा खुदवाया बतलाया गया है। ये कभी आधुनिक इंजीनियरिंग शब्दावली में लघु सिंचाई और मरम्मत के कामों के उदाहरण हैं। ये उदाहरण पूर्ण नहीं है किन्तु उस सूची से स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में भूमि की अर्थव्यवस्था में सिंचाई के महत्त्व का ध्यान लोगों को था।

सिंचाई के साधन–

उन्नत कृषि विकसित सिंचाई के साधनों पर निर्भर करती है। समकालीन

---

१. विक्रम. सप्तदशः सर्गः २४

परिप्रेक्ष्य में आधुनिक सिंचाई का विकास हुआ नहीं मिलता है। खेतों की सिंचाई परम्परागत ढंग से होती थी। इसमें कुएँ द्वारा सिंचाई, तालाब द्वारा सिंचाई तथा नदियों द्वारा सिंचाई का अनुमान किया जा सकता है। उस समय ये ही सिंचाई के साधन रहे होंगे। सम्राट द्वारा बड़े पैमाने पर तालाबों का निर्माण इस बात को सूचित करता है कि तालाबों का उपयोग स्थान आदि भौतिक कार्यों के अतिरिक्त आर्थिक क्रियाओं या आर्थिक संसाधनों को सुदृढ करने के लिए किया जाता था। नदियों के किनारे विभिन्न नगरों का निर्माण नदी, तटों पर विभिन्न फसलों की उपज के होने के उल्लेख में मिलते हैं। इस आधार पर ये कहा जा सकता है कि नदी जल का उपयोग सिंचाई के लिए किया जाता रहा होगा। महाकवि बिल्हण ने अपने वर्णन–विवरण में कश्मीर से दक्षिण भारत पर्यन्त यात्रा में आने वाली नदियों तथा उनके तटों पर बसे नगरों में होने वाली उपजों का वर्णन किया है। इन नदियों में गंगा, यमुना, नर्मदा तथा सरयू आदि नदियों का वर्णन व उनके महात्म्य को बताया है। सरयू के तट पर अंगूर की खेती का वर्णन यह दर्शाता है कि नदी जल सिञ्चन कार्य में प्रयुक्त होता था–

"ब्रूमस्तस्य प्रथमवसतेरद्भुतानां कथानां,
किं श्रीकण्ठश्वशुरशिखरिक्रोड लीलाललाम्नः।
एको भागः प्रकृतिसुभगं कुङ्कुमं यस्य सूते,
द्राक्षामन्यः सरससरयूपुण्ड्रकच्छेदपाण्डुम्।[1]

"शङ्कर भगवान के श्वसुर हिमालय की गोद में विलास का भूषण अर्थात्

---

१. विक्रम. अष्टादशः सर्गः ७२

हिमालय के समीप में विद्यमान अनेक अद्भुत कथाओं का प्रथम स्थान उस खोनमुष गाँव की प्रशंसा में क्या कहा जाए, जिसका एक भाग स्वभावतः सुंदर केसर उत्पन्न करता है और दूसरा भाग रस भरे सरयू के तट पर होने वाले पौढों के टुकडों के समान अर्थात् गण्डेरी के समान पाण्डुवर्ग अगूरों को उत्पन्न करता है।"

सिंचाई के उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त वर्षा के जल द्वारा भी सिंचाई की जाती थी। अधिकांश क्षेत्रों में कृषि वर्षा के जल पर ही निर्भर रहती थी। अच्छी वर्षा अच्छी फसल होने की निर्धारक होती थी। ऐसी भूमि को प्राचीन ग्रंथो में 'देवमातृक' की संज्ञा दी गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सिंचाई के साधन का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है, परन्तु खाद्यान्नों का वर्णन नगण्य है। कौन से खाद्यान्न कब बोये जाते थे, उनकी खेती कैसे की जाती थी, उनकी पैदावार कब होती थी, इत्यादि विषयो से संबन्धित सामग्री का अभाव है।

पशुपालन–

ग्यारहवीं शताब्दी में पशुओं को पालने व उनके उपयोग में विशेष परिवर्तन नहीं आया था। परम्परागत पशुपालन लगभग जारी रहा। दैनिक उपयोगिता के आधार पर ही पशुपालन तथा उनको महत्त्व प्राप्त था। परम्परागत ढंग से कुछ पशुओं का उपयोग दुग्ध उत्पादन तथा दुग्ध से निर्मित दधि, घृत, छाछ आदि के लिए होता था। कुछ पशुओं का कृषि–कर्म, यात्रा तथा अन्य व्यवसायिक कर्म हेतु प्रयोग किया जाता था। पशुओं का धार्मिक, आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व था। ग्रामीण समुदाय में तो पशुपालन घर की अर्थव्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण

अंग था। विक्रमादित्य षष्ठम् के शासनकाल के सीताबल्दी (नागपुर) अभिलेख में उल्लेख आया है कि दण्डनायक वासुदेव ने जमीन खरीदकर उसमें से १२ 'निर्वतन' 'गोप्रचार' (गायों का चारागाह) के लिए और ५ निवर्तन भूमि' 'भूमिवाहक' (गाय चराने वाले के लिए) दान की थी। इस उल्लेख में हमे पशुपालन और डेरी उद्योग की समस्याओं का ध्यान हो जाता है जिनके बारे में किसी भी दूसरे स्रोत से जानकारी प्राप्त नहीं होती। कुछ महत्त्वपूर्ण पशुओं को पालने व उनके उपयोग का वर्णन निम्नलिखित है–

अश्व–

यद्यपि उत्तम नस्ल के घोड़ों का काबुल (अफगानिस्तान) से आयात किया जाता था, तथापि घोड़ों का बड़े पैमाने पर उपयोग यह दर्शाता है कि इतने बड़े पैमाने पर इतनी अधिक मात्रा में अश्वपूर्ति अश्वपालन के बिना संभव नहीं थी। स्वयं बिल्हण ने भी अश्वपालन व तत्सम्बन्धित अश्वशाला तथा उनकी देखभाल का वर्णन किया है–

"कुलिशकठिनलोहबन्धयोगान्नि जगृहकुट्टिमवद्विलङ्घ्यते स्म।
विशिखशकलकण्टकावतीर्णा रणखुरली खुरमण्डलैर्यदीयैः।।"[1]

"जिन घोड़ों के खुरों से, बज्र के समान कड़ी नाँल बंधी होने के कारण, बाणों के टुकड़े रूपी कांटो से आच्छादित युद्ध भूमि, घुड़साल की फर्शबन्दी के समान लाँघी जाती थी अर्थात् घोड़े, खुरों में कड़ी नाल जड़ी होने के कारण आराम से घुड़साल की पक्की सतह पर चलने के समान बाणों के टुकड़े रूपी काँटों से आच्छादित रणभूमि पर भी आराम से चलते थे।"

---

१. विक्रम. षष्ठः सर्गः ४६

हाथी–

राजा द्वारा बड़े पैमाने पर तथा यत्र–तत्र सामान्यजनों द्वारा हाथी का प्रयोग होता था। हाथी के आयात का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हस्तिपालन भी व्यापक पैमाने पर होता था। जहॉ हस्तिपालन राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था, वहीं हस्तिपालन का व्यावसायिक उपयोग भी था। हाथी को विवाह आदि समारोहों में तथा राजा की शोभा–यात्राओं में प्रयोग होता। युद्ध के समय प्रायः राजा हाथी पर सवार होकर रण क्षेत्र में जाता था। यद्यपि अन्य पशुओं की अपेक्षा हस्तिपालन खर्चीला और महँगा था। फिर भी उसकी उपयोगिता और महत्ता को देखते हुए लोग हस्तिपालन करते थे।

बिल्हण द्वारा सेना में हाथियों के प्रयोग का वर्णन–

"एकत्र भारेण धरा नमन्ती न मस्तके तिष्ठति भोगिभर्तुः।
इतीव सर्वास्वपि दिक्षु कीर्णमनेन सेनागजचक्रवालम्।।"[1]

"इस विक्रमाङ्कदेव ने अपनी सेना के बोझ से एक तरफ दबती भूमि शेषराज के मस्तक पर न ठहर सकेगी, इस कारण से मानो अपनी सेना के हाथियों के समूह को सब दिशाओं में फैला दिया।"

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में बिल्हण ने राजा के पास असंख्य हाथियों के होने का वर्णन किया है। यदि इस वर्णन को हम अतिशयोक्तिपूर्ण मान लें तो भी एक बात इससे स्पष्ट हो जाती है कि बड़े पैमाने पर हाथियों को पाला जाता था–

---

१. विक्रम. नवमः सर्गः १३६

"तत्करीन्द्रनिवहावगाहनैर्वाहिनी प्रतिपथंन सागमत्।
दन्तिदानजलनिम्नगाः पुनर्लेभिरे प्रणयमापगापतेः।।"[1]

"वह तुङ्गभद्रा नदी विक्रमाङ्कदेव के असंख्य बडे–बड़े हाथियों के एक साथ उसमें उतर कर स्नान करने से उलटी बहने लगी और हाथियों के मदजल की नदियाँ समुद्र में जा मिली।"

कपि–

बन्दर का एक पालतू जानवर के रूप में उल्लेख मिलता है। कुछ निम्नवर्गीय लोग (मदारी) बन्दरों का खेल दिखा करके जीवन यापन करते थे। ग्यारहवीं शताब्दी का समाज बन्दरों की उपस्थिति से भलीभॉति अवगत रहा होगा क्योंकि जन सामान्य में बन्दरों के प्रति भय का वर्णन स्वयं बिल्हण ने किया है–

"कृष्टांशुका कापि नरेन्द्रवामा लतानिकुञ्जात्कपिना सकोपम्।
धूर्ता पलाय्य प्रियमालिलिङ्ग कोपं न चाप प्रतिसुन्दरीभ्यः।।"[2]

"लता के बने कुञ्ज पर से बंदर के क्रोध से वस्त्र खींचने पर राजा की कोई प्रगल्भ नारी भाग कर राजा से जा चिपकी अर्थात् राजा का आलिङ्गन कर लिया (इससे) सौतों का क्रोध भी उस पर नहीं हुआ। सौतों के सामने पति का आलिङ्गन यद्यपि क्रोधकारक है परन्तु यह बन्दर के डर से ऐसा कर रही है इस भावना से क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ।"

---

१. विक्रम. पंचमः सर्गः ११
२. विक्रम. दशमः सर्गः ५४

शुक–

राजमहलों में शुक पाले जाने का प्रायः वर्णन मिलता है। वैसे सामान्य गृहों में भी शुक पालने की विधा का हम अनुमान कर सकते है। सुग्ग को मनोरंजन के लिए पाला जाता था। ये मधुर आवाज में सुन्दरवचन बोलते थे। कभी–कभी ये शुक सन्मार्ग का उपदेश देते हुए भी पाये गए है। वैसे सुग्गे की आवाज जनसामान्य के लिए कर्णप्रिय थी। बिल्हण ने स्वयं इसका वर्णन किया है–

"वागुन्मीलति भिन्नषड्जललिता लीलाशुकानामपि,
क्रोडे दन्तकरण्डपाण्डुरतनोर्मग्ना विधोश्चन्द्रिका।
पूर्वाशामुखमण्डनत्वमचिराच्चडांशुरायास्यति,
द्रागुन्मुद्रय देवि पङ्कजदलच्छायाञ्चले लोचने।।"[1]

"पालतू सुग्गों की भी स्वच्छ खरज स्वर में बोली सुनाई पड़ने लगी अर्थात् पालतू सुग्गे भी मीठी वाणी से बोलने लगे। हाथी दाँत की बनी (गोल) डिबिया के समान श्वेत शरीरवाले चन्द्रमा की गोद में चाँदनी प्रविष्ट हो गई अर्थात् चन्द्रमा की चाँदनी चन्द्रमा में लीन हो गई। थोड़ी ही देर में सूर्य, पूर्व दिशा के अग्रभाग को सुशोभित करेगा। हे रानी! कमल के पत्ते की शोभा को अपने प्रान्तभाग से प्रकट करने वाले अपने दोनों नेत्रों को शीघ्र खोलो अर्थात् जागो।"

कुक्कुट–

बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरितम् में मुर्गी का उल्लेख किया है। कुक्कुट पालन प्रायः व्यावसायिक दृष्टि से किया जाता था। आमिस–भोजी लोगों को इससे माँस

---

१. विक्रम. एकादशः सर्गः ७५

पूर्ति तथा अण्डे की पूर्ति होती थी। बिल्हण के निम्न वर्णन से मुर्गी के उपयोग व पालन का अनुमान लगाया जा सकता है–

> "ये वाल्लभ्यमनङ्ग लेखलिखने याताः कुरङ्गीदृशाम्
> ये वह्निप्रतिमल्लभल्लपदवी पञ्चेषुणा लङ्घिताः।।
> जाताः कान्तिविपर्ययादनवघेर्दीपाङ्कुरास्तेऽधुना,
> धूलीधूसरताम्रचूडतरूणीचूडावदापाण्डुराः।।"[1]

"जो दीपक के किरण, अपने प्रिय को प्रेम–पत्र लिखने में सहायक होने से अत्यन्त प्रिय हो गए थे, जिनको कामदेव ने आग के समान विषैले बाणों की करतूत से भी अधिक प्रबल बना दिया था अर्थात् विरहज्वालाभिभूत विरहिणियों को जो दीपाङ्कुर अधिक तापदायी मालूम होते थे, वे अब धूल में लोटी हुई मुर्गी के मस्तक पर के रोवों के समान मटमैले दिखाई देते हैं अर्थात् तेजहीन हो गए हैं।"

रासभ–

गधे का व्यावसायिक दृष्टि से निम्न मध्यम वर्ग में महत्त्वपूर्ण स्थान था। मिट्टी ढ़ोने तथा इस तरह के अन्य भारी मालवाहन हेतु तथा धोबियों के द्वारा आवागमन तथा वस्त्र ले आने, ले जाने हेतु बहुधा उपयोग होता था बिल्हण ने स्वयं इसका उल्लेख किया है–

> "रासभेन सहिता जकस्त्री–रूपधारि विरचय्य शरीरम्।
> कापि वञ्चितवती जनबाधां कं विडम्बयति नो कुसुमेषुः।।"[2]

---

१. विक्रम. ११/७६
२. विक्रम. ११/२४

"गदहे को साथ ले, धोबिन का रूप धारण कर किसी अभिसारिका ने जन समूह को ठगा। कामदेव किसकी विडम्बना नहीं करता यानी सबकी विडम्बना करता है, अर्थात् धोबिन को आती देखकर भीड हट गई और रास्ता साफ होने से वह शीघ्र अपने पति के मिलने के स्थान पर पहुँच सकी, किन्तु कामासक्त होने से उसे धोबिन बनने की दुर्दशा भोगनी पड़ी।"

इस प्रकार पशुपालन कृषि की ही तरह भारतीय अर्थव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग बना रहा। पशुपालन धार्मिक, व्यावसायिक, आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था।

व्यापार–

हम भलीभाँति अनुमान कर सकते हैं कि उस काल में समुद्र पार के देशों से खूब व्यापार होता था। यह खेदजनक बात अवश्य है कि इस प्रकार के व्यापार और व्यापारिक जहाजी बेड़े या उसकी रक्षा करने वाली नौसेना के बारे में प्रत्यक्ष उल्लेख बादामी के चालुक्यों के काल की अपेक्षा अन्यत्र भी बहुत कम मिलते हैं। विदेशी व्यापार के बारे में लगभग अकेला उल्लेख रट्टराज के खरेपट्टन के ताम्रपट्टों में १००८ ई० में आया है। इस लेख में अब्बेश्वर के मंदिर को जिस दान का उल्लेख आया है उसमें द्वीपान्तर से आने वाले जहाजों पर प्रति जहाज एक 'गद्याण' सोना की उगाही का भी उल्लेख है। यहाँ द्वीपान्तर का अर्थ समुद्रप्रान्त के देशों से है।

हाथी दाँत की बनी व्यापारिक वस्तुएँ–

११ वीं तथा १२ वीं शताब्दी में हाथी दाँत का जनसामान्य में प्रसाधन सामग्री

के रूप में बहुतायत मात्रा में प्रयोग देखने को मिलता है। यद्यपि हाथी दाँत का प्रयोग तो मानव सभ्यता के प्राचीनतम् अवशेष हडप्पा संस्कृति में ही मिलने शुरु हो जाते हैं तथापि उसका प्रयोग तथा उससे बनी वस्तुएॅ अब लोगों में खूब प्रचलित हो गई थीं। हाथी दांत से कंघी (बाल संवारने के लिए) जैसी दैनिक उपयोग की कई अन्य वस्तुएँ भी प्रयोग में लायी जाने लगी। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में हाथी दाँत की बनी गोल डिबिया का वर्णन मिलता है जो हाथी दॉत के अधिकाधिक प्रयोग तथा उससे होने वाले व्यापार का सङ्केत देता है।[1]

स्वर्ण व्यापार–

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में स्वर्ण व्यापार तथा उसके प्रयोग का चित्रण प्राप्त होता है। सोने से बने आभूषणों के बहुतायत से प्रयोग को देखते हुए इसके व्यापार का अनुमान कर सकते हैं इस स्वर्ण व्यापार के निमित्त लोग देशान्तर में आया जाया करते थे।

"नाभिसङ्गेन गौराङ्ग्याः शोभते रोममञ्जरी।
कन्दर्पहेमकटकाल्लाक्षाधारेव निर्गता।।"[2]

"गौरवर्ण वाली चन्द्रलेखा के नाभी में से निकलने वाली रोमरूपी लता मानों कामदेव के सोने के कड़े में से बहने वाली लाख की धारा के ऐसी शोभित होती थी अर्थात् पीले सोने के कड़े में की लाख जैसे बाहर निकल जाती है वैसी ही उसके सोने के रंग की गोल नाभि में से रोमावली निकली शोभित होती थी।"

---

१. विक्रम. एकादशः सर्गः ७५
२. विक्रम. अष्टमः सर्गः २६

मिट्टी का तेल–

मिट्टी का तेल घरेलू उपयोगी वस्तुओं में आता था। ज्यादातर इसका प्रयोग दीपक जलाने में किया जाता था। बिल्हण ने अपने वर्णन प्रसंग में स्वयं मिट्टी के तेल का उल्लेख किया है यह एक प्रमुख व्यावसायिक वस्तु थी।

"अचिन्तनीयं तुहिनन्द्रवाणां श्रीखण्डवापीपयसामसाध्यम्।
असूत्रयत्पत्रिषु पारसीक–तैलाग्निमेतस्य कृते मनोभूः।।"[1]

"कामदेव ने अपने बाणों में, बरफ के पानी से भी दूर न हो सकने वाले, चन्दन से भरे तालाब के जल से भी शान्त न होने वाले, मिट्टी के तेल की आग का प्रयोग इसके लिए किया अर्थात् कामदेव के बाणों से मिट्टी के तेल की अग्नि के समान कामाग्नि भभक उठी।"

वस्तु विक्रय प्रणाली–

आधुनिक अनुसंधानों के अनुसार सम्भवतः यहाँ देशान्तर का तात्पर्य मलाया से है।[2] इस लेख में यह भी कहा है कि मंदिर को कन्दमूलीय देश से आने वाले माल पर एक 'धरण' प्रति गाड़ी मिलेगा। चेमुल्य और चन्दपुर को इस उगाही से छूट मिली थी। व्यापार प्रायः मार्ग द्वारा होता था। अभिलेखों में महापथों एवं सहायक दोनों के उल्लेख प्रायः मिलते हैं। मार्ग का उल्लेख स्वयं बिल्हण ने अपने ग्रन्थ में किया है–

"निजदानजलोत्थकर्दम– स्खलनत्रस्ततयेव ये पथि।
पदविन्यसनं दधुः क्रमान्मदनिद्रार्धनिमीलितेक्षणाः।।"[3]

---

१. विक्रम. नवमः सर्गः २०
२. दक्कन का प्राचीन इतिहास तथा के०ए० नीलकण्ठ शास्त्री।
३. विक्रम. पञ्चदशः सर्गः २५

"मदजनित निद्रा से आधे बन्द नेत्रों वाले वे हाथी मार्ग में अपने मदजल से हुए कीचड में फिसलने के भय से मानों धीरे–धीरे आगे पाँव रखते थे।"

देश का आन्तरिक व्यापार इन्हीं सड़कों से होता था। गाडियों और जानवरों पर लाद कर माल एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जाता था और उसका क्रय–विक्रय किया जाता था। डाकुओं के खतरे से बचने के लिए व्यापारी सार्थ (कारवां) बनाकर निकलते थे। विभिन्न स्थानों में मन्दिरों में जो मेले लगते थे उनकी तिथियों को ध्यान में रखकर ही ये व्यापारी चलते थे। उत्पादकों की भाँति व्यापारियों ने भी अपने नियम बनाये थे। ये स्वशासी संस्थायें थी। इनकी अपनी परम्पराएँ होती थी। अपने चिन्ह होते थे, और अपनी प्रशस्तियाँ थी।[१]

व्यापारिक फसलें–

अनाज और दालों की खेती के अतिरिक्त, जो कि सिञ्चित और असिञ्चित दोनों प्रकार की जमीनों में होती थी, बहुत बड़े पैमाने पर गहन कृषि के रूप में बगीचे लगाये जाते थे और कपास जैसी व्यापारिक फसलें भी उगायी जाती थी। अभिलेखों में काली भूमि, सिञ्चित भूमि, उपवन भूमि और ऊसर भूमि के खासतौर पर उल्लेख मिलते हैं। बगीचों के उपज के रूप में पान के पत्तों, सुपाड़ी, ताजेफलों, और फूलों के उल्लेख के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में प्राप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है।

कर्पूर–

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में कर्पूर का वर्णन यत्र–तत्र प्राप्त होता है। इसका

---

१. दक्कन का प्राचीन इतिहास– जी याजदानी।

व्यापार उस समय होता था अथवा नहीं इसके प्रमाण नहीं मिलते हैं। कर्पूर (पिपरमेन्ट) का बिल्हण ने जो विवरण दिया है उससे हम कर्पूर के उत्पादन तथा व्यापार दोनों के विषय में अनुमान कर सकते हैं।

'गोष्ठीमिषेण स्वयमेवमेव प्रकाशयन्वाचि पटुत्वमन्यः।
आकृष्य ताम्बूलकरङ्कमध्यात् कर्पूरदानं विदधे बहुभ्यः।।''[1]

''किसी दूसरे राजा ने सहृदयों की सभा के मिष से स्वयं यों ही अपनी वाक्पटुता प्रकट करते हुए पान की डिब्बी में से कर्पूर (पिपरमेण्ट) निकालकर बहुत से राजाओं को दिया। अर्थात् – मैं गोष्ठी चतुर हूँ, यह संकेत किया। कर्पूर जनसामान्य द्वारा गृहकार्य तथा पूजा के प्रयोग में लाया जाता था।

द्राक्षा–

इस महाकाव्य में द्राक्षा का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। उच्च वर्ग के लोगों का यह प्रिय खाद्य फल था। उत्तर भारत, मध्य भारत में कई स्थानों पर इसकी उपज का उल्लेख मिलता है। उच्च वर्गीय लोगों में द्राक्षा का रस (द्राक्षासव) प्रिय एवं बहुतायत से प्रयोग में लाया जाता था।

''मन्ये मन्थाचलविदलितान्निर्गता दुग्धसिन्धो–
र्भूत्वा यस्मिन्नमृतलहरी सत्कवीनां वचांसि।
प्रेमाकूतं कुवलयदृशां शीकरैः पूरयन्ती
द्राक्षा खण्डेष्वमृतकिरणापाण्डुषु स्थैर्यमाप।।''[2]

---

१. **विक्रम. नवमः सर्गः ८२**
२. **विक्रम. अष्टादशः सर्गः ७**

"जिस प्रवरपुर में मन्दरपर्वत से मथे गए दुग्धसमुद्र से निकली अमृत की लहरें सत्कवियों की उक्तियों को भरकर, कमलनयनी कामिनियों की प्रेम भावनाओं को अमृतकणों से पूरित कर, चन्द्र के समान श्वेत अंगूरों के समूहों में स्थिरता को प्राप्त हुई।

कुङ्कुम—

केसर का प्रयोग सम्पन्न वर्ग द्वारा बहुतायत से प्रयोग में लाया जाता था। केसर को प्रायः प्रसाधन सामग्री के रूप में प्रयोग किया जाता था। स्त्रियों का यह प्रिय प्रसाधन था। बिल्हण ने प्रवरपुर का वर्णन करते समय केसर का उल्लेख किया है—

"स्नानक्रीडाव्यसनसमये कुङ्कुमं कामिनीनां,
यत्रोत्तार्य स्तनपरिसराद्गृह्णती कान्तमङ्के।
इर्ष्यामर्षादिव निरवधेर्वीचिहस्तैर्वितस्ता,
कर्षत्यासां प्रतिकलमलिश्यामलान्केशपाशान्।।"[१]

"जिस प्रवरपुर के वितस्ता (झेलम) नदी, कामिनियों के स्थान क्रीड़ा विहार के समय में स्तन पर पोते हुए केसर को धोकर पति को, पक्ष में केसर को, अपनी गोद में लेकर मानों अवधिरहित ईर्ष्याजनित क्रोध से लहर रूपी हाथों से इन कामिनियों के भौरों के ऐसे काले केशपाशों को प्रतिक्षण खींचती है।

---

१. विक्रम. अष्टादशः सर्गः १०

उद्योग–

उद्योगों की जानकारी हेतु हमें केवल अभिलेखों पर आश्रित रहना होगा। उद्योगों के सम्बन्ध में ११३५ ई० का करहाट के शिलाहारों का एक अभिलेख कोल्हापुर से प्राप्त हुआ है तथा इसी से सम्बन्धित एक और अभिलेख ११४२ ई० का है।

इनसे पहले के अभिलेख में उस आमदनी की सूची है जो व्यापारियों ने एक जैन मंदिर के नाम कर दी थी। उसके जो ब्यौरे दिए गए हैं उनमें हमें पता चलता है कि सुपारी और पान के पत्तों की माप एक बोझ, आधा बोझ, और 'हसर' के रूप में होती थी। घी और तेल की माप 'कोड' 'सिद्दिगे' और (उसके दुगने) 'संगडि' से होती थी। रूई की तोल मालवे में होती थी। लङ्का (बढ़ई) पीढ़े तिपाइयाँ, और 'मंच' (खार) आदि बनाते थे। हरी अदरक, हल्दी, सोंठ, लहसुन, 'बाजे' और 'भद्रमुस्ते' की बिक्री तोल कर होती थी। बोझ और 'हसर' शब्दों का प्रयोग इनके लिए और जीरे और कालीमिर्च के लिए भी होता था। नमक और १८ तरह के अनाज की तोल एक गाड़ी, दो गाड़ी, एक बोझ, दो बोझ– इस तरह होती थी। इसी तरह मेवे और फल की तोल होती थी। सुपारी की तोल कन्धे से लटकने वाले थैले, गर्दभ भार और वृषभ भार के रूप में होती थी। सोने के सिक्के की परख के लिए सुनार परखाई लेता था। और चर्मकार 'पादरक्षे' (सेंडल) बनाते थे। उपर्युक्त व्यापारिक वस्तुओं एवं उनके व्यापार से सम्बन्धित कुछ सूचनायें विक्रमाङ्कदेवचरितम् से भी प्राप्त होती है विक्रमाङ्कदेवचरितम् में सुपारी के वृक्ष व उसके उत्पादन क्षेत्र का वर्णन बिल्हण ने किया है। सुपारी का ताम्बूल प्रेमियों द्वारा बड़े पैमाने पर क्रय–विक्रय किया जाता

था। जहाँ एक ओर सुपारी का उत्पादन करने वालों को सुपारी के विक्रय से प्रभूत मात्रा में धन प्राप्त होता था, वहीं पर दूसरी ओर ताम्बूल प्रेमी अर्थ व्यय की परवाह किए बगैर सुपारी खरीदते और खाते थे–

"तामप्येष क्षितिपतिशतालोकनौत्सुक्ययोगा–
दाचक्राम क्रमुकविटपिश्यामलामब्धिवेलाम्।
यत्र स्वेच्छाप्रसरमधुनाप्यम्बुराशेर्भिनत्ति,
क्षिप्ता तीक्ष्णप्रहरणमिषाद्भार्गवेणार्गलेव।।"[१]

"यह बिल्हण कवि, सैकड़ों राजाओं को देखने की उत्सुकता के कारण उस सुपारी के पेडो से श्यामवर्ण समुद्र के तट को अर्थात् परशुराम क्षेत्र नामक दक्षिण कोंकण के समुद्र तट को लाँघ गया। जहॉ परशुराम ने तीखे–तीखे शस्त्रास्त्रों के प्रहरण के मिष से लगाई हुई सिकड़ी अभी भी समुद्र के इच्छानुसार प्रसार को रोकती है। परशुराम ने २१ बार क्षत्रियों का नाश कर सब पृथ्वी का दान ब्राह्मणों को कर दिया और अपने रहने के लिए अपने बाणों से समुद्र को हटाकर नवीन भूमि तैयार कर उसमें निवास किया था, ऐसी पौराणिक कथा है।

बांस का उपयोग ग्रामीणांचल में गृह निर्माण, छप्पर निर्माण तथा अन्य घरेलू उपयोग के लिए किया जाता था। प्राचीन काल से ही बांस से कागज निर्माण किया जाता रहा है। बिल्हण ने अपने ग्रन्थ में बाँस और कागज दोनों का उल्लेख किया है। इससे हम यह अनुमान करं सकते है कि कागज उत्पादन में बांस का प्रयोग अवश्य होता रहा होगा। बिल्हण ने अपने ग्रंथ मे बांस की उपमायें दी है, जो बांस

---

१. विक्रम. अष्टादशः सर्गः ६८

की उपलब्धता का ही परिचायक होना चाहिए–

"भ्रूलेखायुगलं भाति तस्याश्चटुलचक्षुषः।
पत्रद्वयीव हरिता नासावंशस्य निर्गता।।"[१]
"नासावंशविनिर्मुक्त – मुक्ताफलसनाभिना।
भाति भालतलस्थेन बाला चन्दनबिन्दुना।।"[२]

"चञ्चल नेत्रवाली चन्द्रलेखा की दोनों भौवें मानों नाक रूपी बांस के वृक्ष से निकली हुई काले रंग की दो पत्तियाँ थी।"

"मुग्धा चन्द्रलेखा नाक रूपी बांस के वृक्ष से उत्पन्न मोती के समान ललाटतल में विद्यमान सफेद चन्दन के बिन्दु से शोभित होती थी।"

इस प्रकार कुल मिलाकर दैनिक अर्थव्यवस्था सरल थी। व्यापारियों के श्रेणियों की जो औपचारिक प्रशस्तियाँ मिलती हैं। उनमें विलास की बहुमूल्य वस्तुओं के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि आम इस्तेमाल की वस्तुओं के साथ सम्पन्न लोगों के लिए इस प्रकार के उद्योग भी फल–फूल रहे थे।

मुद्रा–

चालुक्यों की मुद्राप्रणाली के विषय में विस्तृत जानकारी का अभाव है। ग्यारहवीं–बारहवीं सदी के राजाओं जयसिंह, जगदेकमल्ल और त्रैलोक्यमल्ल के सिक्कों के बारे में उल्लेख दक्षिण के चालुक्यों के इतिहास से मिलता है। 'पोन' या

---

१. विक्रम. ८/७६
२. विक्रम. ८/८०

'गद्याण' सोने का सिक्का था। 'पण' का छोटा सिक्का उसके दशवें भाग के बराबर था, यह चॉदी का सिक्का रहा होगा। उससे भी छोटे सिक्के पग या हग (एक पण चौथाई), विस (एक पग का पॉचवा भाग) और कणि (एक विश का चौथाई) थे।

चषक आकृति के सिक्के सोने और चाँदी दोनों धातुओं के थे। इन पर प्राचीन कन्नड़ लिपि में लेख हैं।

'आनेय पोन' का अभिलेखों में उल्लेख हुआ है।

तमिल अभिलेखों में– 'आनै', 'अच्चु' का उल्लेख है ये सभी दक्षिण भारतीय सिक्के है।

१०६८ ई० के एक अभिलेख में मुद्रा परिवर्तन का उल्लेख आया है इसमें लौकिक 'गद्याणों' का 'मयूर' गद्याणों में परिवर्तन का उल्लेख है।

उपर्युक्त साक्ष्यों से यह समाप्त हो जाता है कि स्थान–स्थान के हिसाब के सिक्कों की तौल और कारीगरी अलग–अलग किस्म की होती थी। सिक्कों के विनिमय का कार्य काफी लाभप्रद था। यत्र–तत्र प्रान्तीय नगरों की टकसालों का उल्लेख आया है। उदाहरण स्वरूप ११३३ ई० के एक अभिलेख में मल्लिदेव के तम्बलवीडु की "उच्चिन टकशाला" का उल्लेख है।

माप–तौल प्रणाली–

११वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में प्रयोग में आने वाले परिमाप का कुछ अभिलेखीय और कुछ बिल्हण की रचनाओं में उल्लेख मिलता है। भूमि की माप 'मत्तर' और 'कम्मों' में होती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ६०० 'कम्म' एक 'मत्तर' के

बराबर होता था।

एक अभिलेख में ७६ लट्ठों ('कोल') के एक 'मत्तर' का उल्लेख आया है। इस इकाई की परिभाषा स्थान–स्थान पर अलग–अलग होती थी। किन्तु 'कोल' की माप भी निश्चित न थी और कई तरह के लट्ठों का अभिलेखों में उल्लेख है। जैसे– 'पिरिय कोल', 'कुडित कुन्तेय' 'कोल भेरूंड गले' आदि। इसमें भेरूंड गले से गंड 'भेरूंड' की प्राचीनता प्रकट होती है। इन बेतरतीब इकाईयों के मानक को स्थिर करने की कोशिश कम ही की गई थी। 'राजमान' के उल्लेख से शायद मानकीकरण का प्रयास किया गया था। यदि ऐसा प्रयत्न हुआ भी हो तो इस प्रयोग में सफलता नहीं मिली थी।

इस प्रकार किसी भी सौदे को तय करने में लोगों को काफी माथा–पच्ची करनी पड़ती रही होगी और इस काम में स्थानीय लोगों की सहायता लेने की आवश्यकता पड़ती रही होगी। 'खंडुग' बोआई की क्षमता का द्योतक था जो आधुनिक मैसूर में कम से कम ३३३ १/३ मद्र के बराबर था।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित माप–तौल के उपकरणों में तराजू का वर्णन द्रष्टव्य है–

> "केलिधाम्नि न तयोः परिमातुं शक्यते स्म मुखविभ्रमलक्ष्मीः।
> प्रीतिराविरभवत्तु समाना कामकार्मुकतुलातुलितेव।।"[1]

१. विक्रम. एकादशः सर्गः ७०

कर–

राजा की सरकार के हाथ में ही वित्तीय अधिकारों की इजारेदारी न थी अपितु हर स्थानीय सभा या श्रेणी को अपने उद्देश्यों और कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए अपने–अपने क्षेत्र में इस प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। कतिपय उल्लेखों से इन उगाहियों के स्वरूप और इनकी दरों का कुछ–कुछ ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है किन्तु किसी भी लेख में प्रत्यक्ष रूप में कराधान की व्यवस्था का उल्लेख नहीं मिलता। हम इसका अनुमान दानपत्रों के अध्ययन और उनमें दी गई छूटों आदि के विवरणों से लगा सकते है। इसीलिए हमारा यह ज्ञान अप्रत्यक्ष ही हुआ। इसलिए अब यह बतलाने का प्रश्न ही नहीं उठता कि किस मद पर कितना कर लगता था। अतः उसका दूसरे देशों या कालों से तुलना करने का भी प्रश्न नहीं है। जहाँ तक हम देखते है उस काल में समाज के किस वर्ग पर कितना बोझ डाला जाए इसका फैसला मोटे तौर पर ही किया जाता था। हाँ, इसमें इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाता था कि सबके साथ न्याय एवं समानता का व्यवहार हो। खास तौर पर ध्यान देने की बात यह है कि अनेक छोटी–मोटी उगाहियाँ खास–खास वर्गों पर ही लगाई जाती थी, सर्वधारण पर नहीं।

जनता पर कारारोपण तथा उससे पीड़ित जनता का वर्णन बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरितम् में किया है। सोमेश्वर जो कि विक्रमाङ्कदेव का बड़ा भाई था। उसके द्वारा कर उगाही का वर्णन मिलता है–

"ज्ञातास्वादः स्वयं लक्ष्म्या. पिशाच्या इव चुम्बनात्।
रूधिरं कण्ठरन्ध्रेभ्यः सर्वेषामाचकाङ्क्ष सः।।"[१]

"पिशाची के सदृश राजलक्ष्मी का मुख चुम्बन करने से पिशाची के मुख में लगे हुए रक्त के स्वाद का स्वयं अनुभव कर वह राजा प्रजा का गला घोंट कर उनका खून पीने की इच्छा करने लगा अर्थात् कर आदि लगा कर प्रजा को अत्यधिक कष्ट देने लगा।"

कर में छूट–

दान में सभी तरह की वस्तुएँ होती थी। इन सब पर उगाहियाँ देय होती थी इसलिए उन पर छूट मिल सकती थी। दान में बगीचे की भूमि (तोंट) सुपारी के बगीचे (अडकेय तोंटे) सिंचित भूमि (केय) सूखी भूमि (गल्डे) तेल मिले (गाण) मकान, मकानों के लिए जमीन (मने और मने निवेशन) स्वर्ण, गद्याण' (पोन गद्याण) के रूप में नकद धन के उल्लेख बार–बार आये हैं। कभी–कभी तो खास–२ करों और उगाहियों का ही दान खास कामों के लिए किया जाता था। इसके अलावा कभी–कभी स्वेच्छा से भी उगाहियाँ होती थी। खास व्यापारी वर्ग अक्सर इस प्रकार की व्यवस्था करता था।

---

१. विक्रम. चतुर्थः सर्गः १०५

पंचम् अध्याय

१. राजनीतिक दशा
२. राजा
३. मन्त्री
४. कोश
५. दुर्ग
६. गुप्तचर
७. युद्ध, युद्ध प्रणाली, अस्त्र–शस्त्र, युद्ध की शैली, युद्धकनीति,
८. सेना, दूत।

राजनीतिक दशा

राजनीति –

आदर्शवादी दृष्टिकोण से सम्पूर्ण मानव–ज्ञान को इकाई की सज्ञा दी जा सकती है। मानवीय ज्ञान की विभिन्न शाखायें मस्तिष्क में ठीक उसी भाँति प्रस्फुटित हो नाना दिशाओं में फैल जाती है जिस प्रकार किसी चक्र की शलाकाएँ धुरी से चतुर्दिक निकलकर एक वृत्त की रचना करती हैं। ज्ञान संबंधी यूनानियों की विचाररेखा इसी तरह की थी। यथा– प्लेटो साधारण सा प्रश्न उठाता है– "कल्याणप्रद या न्यायोचित क्या है?" इस प्रश्न का सीमा क्षेत्र प्लेटो ने अपने उत्तर द्वारा इतना विराट एवं व्यापक बना दिया है कि वह नैतिकता के विषय–प्रदेश में ही सीमित नहीं हो जाता, प्रत्युत् अन्य शास्त्रो के सीमा क्षेत्रों के अंचलों में प्रवेश करता है।

वस्तुतः उक्त जिज्ञासा 'अच्छा राज्य या समाज क्या होता है?" इन शब्दों में अभिव्यक्त होनी चाहिए थी, क्योंकि प्लेटों ने प्रथम का उत्तर देते हुए सम्पूर्ण समाज की रचना, उसकी आत्मा एवं वाह्य रूपरेखा पर विचार किया है। किन्तु "अच्छा राज्य क्या है?" यह प्रश्न विशुद्ध राजनीतिक उत्सुकता है और अच्छे राज्य का निर्माण दार्शनिक राजा ही कर सकता है।

अध्ययन एवं अन्वेषण की मूल इकाई व्यक्ति है, न कि राज्य अथवा सरकार। व्यक्ति वास्तव में समस्त सामाजिक शास्त्रों का केन्द्र–बिन्दु है। परन्तु व्यक्ति के राजनीतिक पहलू का मुख्य लक्ष्य शक्ति की प्राप्ति है। अतः व्यवहारवादी

राजनीतिशास्त्र का केन्द्र बिन्दु 'शक्ति' मानते हैं। उदाहरणार्थ 'हेरल्ड लास्बेल' के अनुसार राजनीति शास्त्र "शक्ति में सहभाग प्राप्त करने तथा उसके (शक्ति के) निरूपण करने का अध्ययन है।" ब्लंटश्ली ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'राज्य का सिद्धात' मे स्पष्ट शब्दो में राजनीति के बारे में कहा है– राजनीति मुख्यतः कला है न कि विज्ञान है, इसका सम्बन्ध राज्य के व्यावहारिक आचरण अथवा निर्देशन से है।

राजनीतिक स्थिति–

महत्वाकाङ्क्षी विक्रमादित्य षष्ठ ने १०७६ ई० के प्राथमिक चरण में अपने भाई सोमेश्वर द्वितीय को एक युद्धस्थल पर बन्दी बनाकर मृत्युपर्यन्त उसे कारागार में रखा (द्रविडपतिगात्क्वचित्पलायय न्यविशत् बन्धनधाम्नि सोमदेवः)[१] तथा स्वयं कल्याणी राज्य का अधिपति बन गया। १०७६ ई० अपने राज्यारोहण की स्मृति में उसने एक नवीन संवत् चालुक्य विक्रम संवत् का प्रचलन किया।

चोल राजवंश के ऐतिहासिक वंशानुक्रम का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य के सिंहासनासीन होने के समय चोल–राजगद्दी पर उसका साला अधिराजेन्द्र आसीन था। परन्तु थोड़े ही समय बाद चोलों ने अपने शासक के विरूद्ध विद्रोह करके उससे न केवल राजगद्दी छीन ली अपितु उसकी हत्या भी कर दी। इस विद्रोह का नेतृत्व राजेन्द्र द्वितीय (कुलोत्तुँग प्रथम) ने किया। फलतः १०७० ई० में वह चोलराजसिंहासन पर आसीन हो गया। ध्यातव्य है कि अधिराज एवं कुलोत्तुंग में चोल–सिंहासन के अधिकार को लेकर निरन्तर तनाव एवं संघर्ष बना हुआ था, जिसमें सोमेश्वर द्वितीय कुलोत्तुँग प्रथम के तथा विक्रमादित्य षष्ठ अधिराज के

---

१. दक्षिण भारत का इतिहास– डॉ० एच० एन. दुबे।

पक्षधर थे। कुलोत्तुंग के चोल–शासक बनने पर सोमेश्वर द्वितीय ने अपने विद्रोही भाई विक्रमादित्य षष्ठ के विनाश के लिए उससे सैनिक सहायता की याचना की। कुलोत्तुंग ने विक्रमादित्य षष्ठ के राज्य पर आक्रमण करके उसे पराजित कर दिया। परन्तु सोमेश्वर द्वितीय इन्हीं युद्धों की कालावधि में विक्रमादित्य षष्ठ द्वारा बन्दी बना लिया गया, फलतः उसका राज्य विक्रमादित्य के अधीन हो गया। सोमेश्वराद्बाहुबलेन राज्य ग्रहीतवानार्जित कीर्ति लक्ष्मीः)[१] कुलोत्तुंग के शासन काल के अंतिम चरण में १११८ ई० में एक बार पुनः चोल– चालुक्य संघर्ष का भीषण सिलसिला चल पड़ा। विक्रमादित्य षष्ठ ने अपने पिता सोमेश्वर प्रथम द्वारा वेंगी राज्य पर डाले गये राजनीतिक दबाव को पुनः स्थापित करने के लिंए १११५ ई० में ही वहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था। संयोगवश १११८ ई० में युवराज के पद पर अभिषिक्त होने के लिए चोल सम्राट एवं पिता कुलोत्तुंग द्वारा बुला लिए जाने पर विक्रमचोल ने जिस समय वेंगीराज्य को छोड़कर राजधानी गंगैकोंडचोलपुरम् के लिए प्रस्थान किया, उसी समय विक्रमादित्य षष्ठ ने मौके का लाभ उठाकर चोल सेना को परास्त करके अपने सेनापति अनन्तपाल को वेंगी का शासक बना दिया। आगे बढ़कर उसने स्वयं गंगवाड़ी पर आक्रमण किया एवं कोलार क्षेत्र को जीतकर उसे अपने राज्य में मिला लिया।

गंगवाड़ी राज्य में उस समय होयसल नरेश विट्टिग अथवा विष्णुवर्धन् शासन कर रहा था। विष्णुवर्धन ने अतीव महत्वाकांक्षी होने के कारण धीरे–धीरे पाण्ड्यों एवं कदम्बों की सहायता प्राप्त कर अपने राज्य को चालुक्यों की अधीनता से मुक्त करा लिया था। विक्रमादित्य षष्ठ ने होयसलनरेश विष्णुवर्धन् को परास्त कर गंगवाड़ी

---

१. दक्षिण भारत का इतिहास– डॉ० एच० एन० दुबे

पक्षधर थे। कुलोत्तुँग के चोल–शासक बनने पर सोमेश्वर द्वितीय ने अपने विद्रोही भाई विक्रमादित्य षष्ठ के विनाश के लिए उससे सैनिक सहायता की याचना की। कुलोत्तुंग ने विक्रमादित्य षष्ठ के राज्य पर आक्रमण करके उसे पराजित कर दिया। परन्तु सोमेश्वर द्वितीय इन्हीं युद्धों की कालावधि में विक्रमादित्य षष्ठ द्वारा बन्दी बना लिया गया, फलतः उसका राज्य विक्रमादित्य के अधीन हो गया। सोमेश्वराद्बाहुबलेन राज्य ग्रहीतवानार्जित कीर्ति लक्ष्मीः)[1] कुलोत्तुँग के शासन काल के अंतिम चरण में १११८ ई० में एक बार पुनः चोल– चालुक्य संघर्ष का भीषण सिलसिला चल पड़ा। विक्रमादित्य षष्ठ ने अपने पिता सोमेश्वर प्रथम द्वारा वेंगी राज्य पर डाले गये राजनीतिक दबाव को पुनः स्थापित करने के लिए १११५ ई० में ही वहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था। संयोगवश १११८ ई० में युवराज के पद पर अभिषिक्त होने के लिए चोल सम्राट एवं पिता कुलोत्तुँग द्वारा बुला लिए जाने पर विक्रमचोल ने जिस समय वेंगीराज्य को छोड़कर राजधानी गंगैकोंडचोलपुरम् के लिए प्रस्थान किया, उसी समय विक्रमादित्य षष्ठ ने मौके का लाभ उठाकर चोल सेना को परास्त करके अपने सेनापति अनन्तपाल को वेंगी का शासक बना दिया। आगे बढ़कर उसने स्वयं गंगवाड़ी पर आक्रमण किया एवं कोलार क्षेत्र को जीतकर उसे अपने राज्य में मिला लिया।

गंगवाड़ी राज्य में उस समय होयसल नरेश विट्टिग अथवा विष्णुवर्धन् शासन कर रहा था। विष्णुवर्धन ने अतीव महत्वाकांक्षी होने के कारण धीरे–धीरे पाण्ड्यों एवं कदम्बों की सहायता प्राप्त कर अपने राज्य को चालुक्यों की अधीनता से मुक्त करा लिया था। विक्रमादित्य षष्ठ ने होयसलनरेश विष्णुवर्धन् को परास्त कर गंगवाड़ी

---

१. दक्षिण भारत का इतिहास– डॉ० एच० एन० दुबे

यथा–

"उत्खात विश्वोत्कटकण्टकानां यत्रोदितानां पृथिवीपतीनाम्।
क्रीडागृहपाङ्गणलीलयैव बभ्राम कीर्तिर्भुनत्रयेऽपि।।"[1]

इनकी मुहरों पर वराह का चिन्ह है। इसके महत्त्व के बारे में अनेक अभिलेखों में मंगलाचरण के रूप में एक छंद आया है जिसमें विष्णु द्वारा वराह का रूप धारण कर समस्त पृथ्वी के उद्धार का कथन है। इस छंद के द्वारा चालुक्य यह घोषित करते प्रतीत होते हैं कि विष्णु की भाँति वे भी समस्त पृथ्वी की रक्षा के लिए हैं। कौथम के ताम्रपट्टों में 'इरिव–बेदंग' सत्याश्रय के धनुष के वर्णन में श्लेष के माध्यम से यही भाव व्यक्त है।

'सर्ववर्णधरम् धनुः' अर्थात वह धनुष जो सभी वर्णों में (चारों वर्णों) की सामान रूप से सहायता करता है और धनुष जो इन्द्रधनुष की भॉति सभी रंग धारण करता है।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में विष्णु का वराह रूप धारण करने के संदर्भ में श्लोक प्रस्तुत है–

"विपर्ययं पूर्वकथाद्भुतस्य चालुक्यभूपालशरश्चकार।
पपात यन्नष्टधृतिर्वराहस्तं विह्वलाङ्गं वसुधा बभार।।"[2]

"चालुक्यवंशीय राजा विक्रमाङ्कदेव के बाण ने पूर्वकाल में प्रसिद्ध वराह द्वारा उठाई गई पृथ्वी की कथा के विषय को पलट दिया क्योंकि कि धैर्य से रहित जो

---

१. विक्रम. प्रथमः सर्गः ६०
२. विक्रम. षोडशः सर्गः ३७

सुअर पृथ्वी पर गिर पडता था उस विकल शरीर सुअर को पृथ्वी धारण करती थी। अर्थात् पूर्वकाल मे आदिवराह ने पृथ्वी को धारण किया था अब पृथ्वी ही वराह को धारण करती है, यह विक्रमाङ्कदेव के बाण ने नई स्थिति उत्पन्न कर दी।''

यहॉ तक कि विक्रमादित्य षष्ठम् ने भी, जिसने अपने बडे भाई से युद्ध किया था सिंहासन पर सबसे बड़े भाई के उत्तराधिकार को चुनौती नहीं दी थी।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में बिल्हण ने दर्शाया है कि चालुक्य वश में एकतंत्र आनुवांशिक प्रणाली थी। युवराज ही आमतौर पर राजा का पद ग्रहण करता था जैसा कि विक्रमाङ्कदेव के प्रस्तुत श्लोक से स्पष्ट होता है–

''अशक्तिरस्यास्ति न दिग्जयेषु यस्यानुजोऽहं शिरसा धृताज्ञः।
स्थानस्थ एवाद्भुतकार्यकारी बिभर्तु रक्षामणिना समत्वम्।।''[1]

''आज्ञा का शिरसा पालन करने वाला जिसका मैं छोटा भाई हूँ उसके दिग्विजय मे असामर्थ्य सम्भावित नहीं हो सकता है। वह अपने स्थान पर ही रहकर आश्चर्यजनक काम करता हुआ रक्षामणि की समानता को प्राप्त हो अर्थात् रक्षामणि जहाँ बॅधा रहता है वहीं रहकर सम्पूर्ण विघ्नों को अपने प्रभाव से दूरकर सब प्रकार का आश्चर्यजनक काम कर मनुष्य की रक्षा करता है वैसे ही सोमदेव अपने स्थान पर ही रहकर मेरी सहायता से आश्चर्यजनक कार्य करने के यश का भागी होकर प्रजा की रक्षा करे।''

---

१. विक्रम. तृतीय. सर्गः ५४

राजा—

बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरितम् में कल्याणी के चालुक्यों की वंश परम्परा की शुरूआत आदि पुरूष हारीत तथा मानव्य से की है। बिल्हण ने अपने ग्रन्थ में कल्याणी के चालुक्यों की जिस वंश परम्परा का सम्पूर्ण वर्णन किया है उस वंश वृक्ष का क्रम से संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है। राजा हारीत तथा मानव्य के वर्णन से ही बिल्हण ने ग्रन्थारम्भ किया है—

"विपक्षवीराद्भुतकीर्तिहारी हारीत इत्यादिपुमान्स यत्र।
मानव्यनामा च बभूव मानी मानव्ययं यः कृतवानरीणाम्।।"[1]

"जिस चालुक्य वंश में आदि पुरूष हारीत नाम का हुआ जो विपक्षी राजाओं की आश्चर्यजनक कीर्ति का अपहरण करने वाला था। अभिमानी मानव्य नाम का राजा भी उसी वंश में हुआ जिसने शत्रुओं के अभिमान को तोड़ दिया था। इसके अनन्तर बिल्हण ने चालुक्य वंश के प्रतापी राजा तैलप का वर्णन किया है—

"श्रीतैलपो नाम नृपः प्रतापी क्रमेण तद्वंशविशेषकोऽभूत।
क्षणेन यः शोणितपङ्कशेषं सङ्ख्ये द्विषां वीररसञ्चकार।।"[2]

"क्रम से उस वंश का तिलकरूप प्रतापी श्री तैलप नाम का राजा हुआ, जिसने युद्ध में देखते—देखते शत्रुओं के वीररस रूपी जल को अपने प्रताप की गर्मी से सुखा कर खून के कीचड़ के रूप में परिणत कर दिया। अर्थात् शत्रुओं की वीरता नष्ट करते हुए युद्धभूमि को खून से भर दिया।"

---

१ विक्रम. प्रथमः सर्गः ५८
२. विक्रम. प्रथमः सर्गः ६८

राजा तैलप के वर्णन के पश्चात् बांस के स्वच्छ मोती की कान्ति के समान तेजस्वी सत्याश्रय नाम का राजा हुआ जिसकी क्रुद्धावस्था की भृकुटी के क्रोध स्वरूप तलवार ने शत्रुओं के मस्तकों को भी चूर–चूर कर दिया।

अथ पञ्चभिः श्लोकैः सत्याश्रयं वर्णयति कविः

"चालुक्य वंशामलमौक्तिकश्रीः सत्याश्रयोऽभूदथ भूमिपालः।
खड्गेन यस्य भ्रुकुटिक्रुधेव द्विषां कपालान्यपि चूर्णितानि।।"[1]

श्री तैलय राजा के अनन्तर चालुक्य कुल में बांस के स्वच्छ मोती की कान्ति के समान तेजस्वी सत्याग्रह नाम का राजा हुआ, जिसकी कुद्धावस्था की भृकुटी के क्रोध स्वरूप तलवार ने शत्रुओं के मस्तकों को भी चूर–चूर कर दिया।

"यस्य प्रतापेन कदर्थ्यमानाः प्रत्यर्थिभूपालमहामहिष्यः ।
अन्वस्मरंश्चन्दनपङ्किलानि प्रियाङ्कपालीपरिवर्तनानि।।"[2]

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में आहवमल्लदेव जिसका दूसरा नाम त्रैलोक्यमल्ल था, के प्रतापों का वर्णन प्रस्तुत श्लोक में दृष्टव्य है–

"तस्मादभूदाहवमल्लदेवत्रैलोक्यमल्लापरनामधेयः।
यन्मण्डलाग्रं न मुमोच लक्ष्मीर्धाराजलोत्था जलमानुषीव।।"[3]

---

१. विक्रम. प्रथमः सर्गः ७४
२. विक्रम. प्रथमः सर्गः ८०
३. विक्रम. प्रथम. सर्गः ८७.

चालुक्यवंश का राजा सोमेश्वर अविवेकी, पापी प्रवृत्ति का एवं मद्यप था। राजलक्ष्मी के मद में चूर सोमदेव की सम्पूर्ण कीर्ति नष्ट हो जाने का पता ही नहीं चला। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में इसका उल्लेख मिलता है–

"मदिरेव नरेन्द्रश्रीस्तस्याभून्मदकारणम्।
न विवेद परिभ्रष्टं यदशेषं यशोंशुकम्।।"[1]

इसके पश्चात् सोमेश्वर के अन्याय से पीड़ित जनता के कष्ट को दूर करने के लिए विक्रमाङ्कदेव ने सोमदेव के अन्यायी शासन को समाप्त करने के लिए सोमदेव को परास्त कर स्वयं सम्राट बना। न्यायप्रिय चालुक्य राजलक्ष्मी का समादर करने के लिए तथा जनता को सुख–शान्ति प्रदान करने के लिए विक्रमाङ्कदेव ने राजलक्ष्मी का आलिंगन किया। बिल्हण ने स्वयं विक्रमाङ्कदेव की विजय का उल्लेख किया है–

"विहितसमरदेवतासपर्यः परिकरितः क्षितिपालयुग्मलक्ष्म्या।
अथ शिथिलितकङ्कटस्तटान्त–स्थितकटकां स जगाम तुङ्गभद्राम्।।"[2]

"दोनों राजाओं को परास्त करने के अनन्तर संग्राम के देवता का पूजन करने वाला, दोनों राजाओं की राजलक्ष्मी से आलिङ्गित अर्थात् राजलक्ष्मी को प्राप्त करने वाला और युद्ध समाप्त हो जाने से आवश्यकता न रहने के कारण कवच को ढीला करने वाला विक्रमाङ्कदेव, तट पर विद्यमान सेना वाली तुङ्गभद्रा नदी पर गया।"

---

१. विक्रम. ४/६८
२. विक्रम ६/६२

बिल्हण द्वारा वर्णित चालुक्यों की वंशावली का संक्षिप्त वर्णन करने के पश्चात् राजा के विषय में तथा समकालीन समय में उसकी स्थिति का उल्लेख प्रासंगिक है।

राजा को सदा सजग रहना पड़ता था। याज्ञवल्क्य ने राजा के गुणों में 'महोत्साह' को सबसे ऊपर स्थान दिया है। जो भी प्रमाण उपलब्ध हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि तैल द्वितीय और उसके उत्तराधिकारियों ने उन आदर्शों के अनुरूप आचरण करने का यत्न किया था। युद्धकाल हो या शांति, वे सदा नीतियों के निर्धारण और अन्य निर्णयों में सक्रिय रूप में भाग लेते थे। इसमें कोई शक नहीं कि उनकी सहायता के लिए योग्य और विश्वस्त मंत्री होते थे और इन मंत्रियों में अधिकांश राजकाज के अलावा युद्ध की कला में भी निष्णात् थे किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इन राज्यों में कोई सुसंगठित मंत्रिपरिषद् न थी।

आवश्यक विषयों पर चर्चा के लिए जो भी सरदार या राजा का सभासद पास में होता था, उसे बुला लिया जाता था। अन्य पदाधिकारी विभिन्न कार्यों से राज्य के विभिन्न भागों में रहते थे। मंत्रियों को अकेले या बैठकों में राय देने का अधिकार था और सम्राट उनकी बातें बड़े ध्यान से सुनता था अथवा 'पुरोहित' से विचार विमर्श कर स्मृतियों की व्यवस्था का अनुगमन करता था। पुरोहित धार्मिक मामलों के अतिरिक्त विद्या और राजनय का भी पंडित माना जाता था।

इस प्रकार सम्राट के शासन का स्वरूप व्यक्तिनिष्ठ था और उसे सभी बातों पर ध्यान देने को तत्पर रहना पडता था। ये मामले चाहे बड़े हों या छोटे या साम्राज्य के किसी अतिदूरस्थ स्थान से ही संबंधित क्यों न हों राजा के पास दोनों

के लिए अगणित अर्जियां आती थी। उनके निपटारे के लिए भी उसे काफी समय देना पड़ता था।

राज परिवार में शिक्षा–दीक्षा–

अभिलेखों अथवा साहित्य में राजकुमारों की शिक्षा–दीक्षा के बारे में कोई सूचना नहीं मिलती है। याज्ञवल्क्य स्मृति में प्राचीन प्रथा की पुनरावृत्ति कर दी गयी है कि राजा को 'अन्वीक्षिकी' 'त्रयी' 'दण्डनीति' और 'वार्ता' का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। याज्ञवल्क्य इस स्मृति पर टीका करते हुए अपरार्क या विज्ञानेश्वर ने किसी समसामयिक तथ्य का उल्लेख नहीं किया है। सोमेश्वर के 'मानसोल्लास' में भी इस सम्बन्ध में कोई अतिरिक्त बात नहीं कही गयी है।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में कल्याणी के विक्रमाङ्कदेव षष्ठ के बाल्यकाल से युवावस्था के मध्य विभिन्न प्रकार की शिक्षा जैसे खेलकूद, शस्त्रास्त्र चालन में निपुणता तथा अध्ययन के पश्चात् वैदुष्य प्राप्त करने का वर्णन किया है। शिक्षा–दीक्षा का वर्णन करते हुए बिल्हण ने लिखा है कि शिशुकाल में विक्रमादित्य लोहे के पिंजड़े में बन्द सिंह–शावकों से खेलता था। इस श्लोक में कुछ ऐसा ही दृष्टव्य है।

"स पीडयन्नायसपञ्जरस्थान् क्रीडापरः केसरिणां किशोरान्।
समाददे भाविरिपुद्विपेन्द्र–युद्धोपयोगीव तदीयशौर्यम्।।"[1]

"खेलकूद में लगे हुए उस बालक ने लोहे के पिंजरे में के शेर के बच्चों को

१. विक्रम. तृतीय सर्गः १५

तंग कर भावी शत्रुरूपी गजेन्द्रों के युद्धों में उपयोगी उनके शौर्य को मानों ले लिया। सिंह ही का शौर्य गजेन्द्रों के मारने में समर्थ होता है इसलिए इसने शत्रुरूपी गजेन्द्रों को मारने के लिए मानों इनसे शौर्य छीन लिया।"

बाद में उसने सभी लिपियों का ज्ञान प्राप्त किया और वह एक कवि और उत्तम वक्ता बना था।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में राजकुमार को कविता बनाने में और युक्तिपूर्ण बातें करने में अत्यन्त निपुण होना बताया गया है। ऐसा इस श्लोक में प्रस्तुत है–

"लावण्यलुब्धाभिरलब्धमेव भूपालकन्यामधुपाङ्गनाभिः।
कवित्ववक्तृत्वफला चुचुम्ब सरस्वती तस्य मुखारविन्दम्।।"[1]

"उस राजकुमार के सौन्दर्य पर मोहित राजकन्या रूपी भ्रमराङ्गनाओं से अप्राप्य उसके मुख कमल को कवित्व तथा वक्तृत्व शक्ति देने वाली सरस्वती ने चूम लिया अर्थात् सरस्वती ने उसके मुख में वास कर लिया। अत एव वह कुमार बाल्यकाल में ही कविता बनाने में और युक्तिपूर्ण बातें करने में अत्यन्त निपुण हो गया।"

उच्च्व पदाधिकारियों और आम जनता के अधिगमों के बारे में अच्छी जानकारी मिलती है। हम यह मान सकते हैं कि एक ऐसे सुसंगठित समाज में और एक ऐसी राज्यव्यवस्था में जिसमें सब कुछ राजा पर ही निर्भर था, राजकुमारों की शिक्षा–दीक्षा पर पूरा ध्यान दिया जाता रहा होगा।

---

१. विक्रम. तृतीयाः सर्गः १६

राज्याभिषेक–

बादामी काल की भाँति इस काल में भी किसुबोलल में ही राजाओं के 'अभिषेक' होते थे। १०७० ई० के एक अभिलेख में इस स्थान को समस्त भुवनाश्रय श्री पृथिवी बल्लभों का महावीर सिंहासन और देश के समस्त नगरों में श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि चालुक्यवंश के सभी राजाओं के अभिषेक के महोत्सव यहीं होते थे। इस स्थान का आधुनिक नाम पकृदकल (अभिलेखप्रस्तर) हैं। यह नाम इसी ऐतिहासिक तथ्य की यादगार है। वयस्क होने पर 'युवराज' की नियुक्ति की प्रथा थी। युवराज को दो केन्द्रीय मंडलों वेल्वोला ५०० और पुरिगेरे ३०० का शासक बना देते थे। युवराज पद का चिन्ह एक 'कंठिका' होती थी। युवराज को कंठिका पहनाने की प्रथा संभवतः राष्ट्रकूटों ने चलाई थी।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वयस्क होने पर युवराज की नियुक्ति की प्रथा थी तथा उन्हें सम्पूर्ण राजकार्य का भार सौंप दिया जाता था और विधि–विधान से राज्याभिषेक की तैयारी की जाती थी। राज्याभिषेक में गंगादि कुल नदियों से लाये गये पवित्र जल तथा कुल पुरोहित द्वारा निर्देशित अन्य पूजनीय सामग्रियों से मंत्र उच्चारण पूर्वक राज्याभिषेक किया जाता था। बिल्हण द्वारा दी गयी उपमाओं के आधार पर विक्रमाङ्कदेव के शुभ मुहूर्त में राज्याभिषेक का उल्लेख कर सकते हैं।

> "मुखपरिचितराजहंसभङ्ग्या सरसिरुहेष्विव पूरयत्सु शंङ्खान्।
> सरिति घटिकयेव शोधयन्त्यां प्रतिफलितार्कमिषेण लग्नवेलाम्।।"[1]

"कमलों के मुख पर या अग्रभागों में प्रेमपूर्वक बैठे हुए राजहंसों के मिष से

---

१. विक्रम. षष्ठः सर्गः ६४

मानों कमलों के शंखों को बजाते रहने पर और नदी के जल में प्रतिबिम्बित सूर्य बिम्ब के मिष से मानों नदी के, घटिका देखकर शुभमुहूर्त का विचार करते रहने पर विक्रमाङ्कदेव का राज्याभिषेक हुआ।

"अतिशिशिरतया मरुत्सु भक्त्या कुलसरितामिववारि धारयत्सु।
नभसि विकरतीव गाङ्गमम्भः पवनसमाहृतशीकरच्छलेन।।"[१]

"वायुओं के अत्यन्त ठंडे होने से मानों उनके द्वारा भक्तिपूर्वक गङ्गादि कुल नदियों से (अभिषेक के लिए) लाए गए पवित्र जलों को धारण करते रहने पर, और आकाश के वायुओं के जल को छिड़कते रहने पर (विक्रमाङ्कदेव का राज्याभिषेक हुआ)।"

युद्ध में विजय प्राप्त होने के अनन्तर राजकुमार विक्रमाङ्कदेव ने पृथ्वी को अच्छा स्वामी मिल जाने से अपने स्वामियों की पराजय के सम्पूर्ण दुःखों को दूर कर देने वाले आकाश में गूँजने वाले चालुक्यवंशीय राजाओं की राजलक्ष्मी के मनोमालिन्य को दूर कर देने वाले चालुक्यवंशीय राजा विक्रमाङ्कदेव के राज्याभिषेक का चित्र प्रस्तुत है।

"अथ सुरपथवल्गद्दिव्यभेरीनिनादं,
प्रशमितपरितापं भर्तृलाभात्पृथिव्याः।।"
अलभत चिरचिन्ताचान्तचालुक्य लक्ष्मी–
क्लममुषमभिषेकं विक्रमादित्यदेवः।।"[२]

---

१. विक्रम. षष्ठः सर्गः ६५
२. विक्रम. षष्ठः सर्गः ६८, ६६

राजा का विरूद–

इस काल के सभी औपचारिक दस्तावेजों में सम्राट का पूरा विरूद यह था "समस्त भुवनाश्रय श्री पृथ्वीबल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक सत्याश्रयकुलतिलक चालुक्या भरण श्रीमत्"। इसके बाद राजा के अपने विरूद होते थे जिनके अंत में मल्ल आता था। इस मल्ल विरूद से राजा की सही पहचान में बाधा उपस्थित हो जाती है। कभी–कभी एक ही राजा के ऐसे दो–दो विरूद होते थे, जैसे सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल भी था और त्रैलोक्यमल्ल भी। इसमें कोई शक नहीं कि मूल अभिलेखों में अथवा उनके खंडित या नष्टप्रायः हो जाने पर उनकी फिर से तैयार की गई प्रतिलिपियों में कभी–कभी दुराख्यान भी हुए हैं।

सामंत राजा–

आधुनिक पुरालेख शास्त्रियों से बहुत पहले कवि पम्प ने लक्षित किया था कि सामंत राजाओं की 'प्रशस्तियां' बहुचर्चित 'समधिगतपंच महाशब्द' से प्रारम्भ होती थी। उदाहरणार्थ ६६२ ई० के भोगलि अभिलेखों में कदंब आदित्यवर्मन अपने कुल की प्रशस्ति में वंश–ध्वज, मुद्रा आदि का उल्लेख करता है। १०४४ ई० के एक नोलबधिराज सामंत के एक लेख में उसके 'पट्टवंध' (अभिषेक) का विशेषकर वर्णन है। १०७८–७६ में 'पेग्गडे' कंबण्ण ने 'माडलिक' जोयिमथ्य को बेल्लारी जिले में कंबेश्वर के मंदिर में जमीन दान देने के लिए 'विन्नय' दिया था। इनके शासन का भी वर्णन प्रायः उसी प्रकार होता था जैसे सम्राट के शासन का।

ये भी अपने नेलेवीडु या 'राजधानी' से शासन करते थे। दुष्टों का दमन और सज्जनों की रक्षा करना, फुर्सत के समय उत्तम सामाजिक और बौद्धिक कार्य करना

इनका व्यवहार था। सम्राटों की भाँति इनके दरबार होते थे। इनके अपने मंत्री और अन्य अधिकारी होते थे। ये सम्राट के अधिकारियों से पृथक् होते थे। एक अभिलेख में तो एक सामंत के कम से कम ५ मंत्रियों का उल्लेख है।

राजा तथा सामंत राजा में अन्तर–

सम्राट से इसकी प्रशस्ति में एक ही मुख्य भिन्नता यह पायी जाती है कि इनकी प्रशस्तियों में उत्तरोत्तराभिवृद्धि प्रवर्धमानम् आचद्राक्कर्तारवरम् सलुतमङ्रे' जैसी पदावली नहीं लिखी जाती थी जैसी कि सम्राटों के लेखों में मिलता है।

राजा के कर्तव्य–

किसी विजय के दौरान अव्यवस्था की स्थिति में स्थानीय आचार आदि का जो भी अतिक्रमण हुआ हो, विजयी राजा का यह कर्तव्य है कि वह विजित राज्य के आचार व्यवहार की रक्षा उसी प्रकार करें जैसे अपने देश के आचार व्यवहार आदि की रक्षा करता है। चालुक्यवंशियों ने इस नियम का पूर्णता से पालन किया था। विजित राजाओं को उनके प्रदेशों में पुनः प्रतिष्ठित कर दिया जाता था। उन्हें सम्राट की अधीनता माननी पड़ती थी और अपने दस्तावेजों के प्रारम्भ में सम्राट के उपाधियों के साथ उल्लेख करना पड़ता था। फिर वे तत्पाद 'पद्मोपजीवी' जैसी शब्दावली के बाद अपनी प्रशस्ति देते थे। भारतीय राजा का कर्त्तव्य शांति और व्यवस्था को बनाए रखना होता था जो कि एक अभावात्मक (निगेटिव) कर्तव्य है। राजा का परमकर्त्तव्य था कि वह प्रजा के विभिन्न वर्गों में, जातियों, निगमों, संप्रदायों, गाँवों, मंदिर और शेष सभी वर्गों में शान्ति और व्यवस्था कायम रखे। सभी अपने–अपने धर्मों का पालन करते रहें और एक–दूसरे के धर्म का अतिक्रमण न करें।

राज्य की स्थिति–

करीब–करीब दो सदियों तक, सिर्फ कुछ छोटी–छोटी बाधाओं और कुछ छोटे–छोटे उपद्रवों को छोड़कर देश–विदेशी हमलों की तबाहियों से बचा रहा। चालुक्यों की सेनाएं प्रायः कुन्तल की सीमाओं के परे ही व्यस्त रही। जहाँ तक आंतरिक संघर्ष का प्रश्न है सिर्फ एक बार सोमेश्वर द्वितीय और विक्रमादित्य के बीच बड़े पैमाने पर गृहयुद्ध हुआ था। सोमदेव तथा विक्रमाङ्कदेव के मध्य युद्ध वर्णन निम्नवत् है–

अहमहमिकया प्रधाविताभ्यां मिलितममुष्य बलं तयोर्बलाभ्याम्।
सलिलमभिमुखं सहाम्बुराशेस्तदनु महानदयोरिवोदकाभ्यांम्।।[1]

जहाँ तक भारतीय लेखकों के साहित्य या अन्य ग्रन्थों का सम्बन्ध है उन्हें वास्तविक घटनाओं में कोई रुचि न थी। उदाहरण के तौर पर बिल्हण ने लिखा है कि विक्रमादित्य ने रामराज्य की स्थापना की। प्रजा को अपने घरों में ताले लगाने की आवश्यकता न थी। रात्रियों में किवाड़ा (दरवाजा) बन्द करने की परवाह न करने वाले, घर की रक्षा की चिन्ता न रखने वाले लोग खर्राटा मारकर सोते थे।

जनैरवज्ञातकपाटमुद्रणैः क्षपासुरक्षाविमुखैरसुप्यत।
कराविशन्ति स्म गवाक्षवर्त्मसु
क्षपापतेश्छिद्रपथैर्न तस्कराः।।[2]

इसके विपरीत बहुत से ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनमें कानून और शांतिभंग की

---

१. विक्रम. षष्ठ, सर्गः ६६
२. विक्रम. सप्तदशः सर्गः ६

घटनाओ का जिक्र है। मैसूर के शिभोगा जिले से दो अभिलेख मिले हैं जिनमें एक में ६७५ ई० में एक सड़क पर किसी 'गावुंड' के एक पुत्र कल्लन का डाकुओं द्वारा वध किये जाने का उल्लेख है। दूसरे अभिलेख में जो ६७६ ई० का है, लुटेरों से गाँव की रक्षा करते एक मनिहार की मृत्यु का उल्लेख है। १००७ ई० में होट्टूर कें 'तलारि' की लुटेरों से संघर्ष में मृत्यु हुई थी। ये लुटेरे गाँव के जानवर चुराने आये थे। १०१६ ई० के एक अभिलेख में लिखा है कि मुलगेरे के गाँव से कुछ स्त्रियों का बलपूर्वक अपहरण हो रहा था। कुम्भर वर्ग ने उनका उद्धार किया, किन्तु इस संघर्ष में उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। १०३२ ई० में जानवरों के अपहरण के लिए एक डाके का उल्लेख मिला है।

सन् १०४७ ई० में कोगलि (वेल्लारी) के पड़ोस में एक स्थानीय सरदार उपमादित्य एचनायक की चोरों से लड़ाई में मृत्यु हुई थी। सन् १०४६ ई० में जानवर चोरों से हुए संघर्ष में वेंटूर का 'मादिमत्य' वीरगति को प्राप्त हुआ। १०५८ ई० में शिभोगा जिले के शिकारपुर तालुक, में मुडयनगेरि से जानवर और औरतों को लूटने के लिए डाकू आए थे।

११२७ ई० में शिभोगा के उद्रि की संतर के राजा से टक्कर हुई। इस राजा ने कदंब तैलप के विरूद्ध विद्रोह किया था। उसके कारण गाँव की भूमि और स्त्रियों को कष्ट हुआ था। ११४६ ई० में करकद चन्द्र 'दण्डनायक' के साले मधुवरस ने कुरुमरि (कुडप्पा जिला) पर चालीस घुड़सवारों के साथ हमला किया था।

मंत्री–

११वीं शताब्दी में मंत्रियों की स्थिति उत्तर भारत से दक्षिण भारत पर्यन्त लगभग एक जैसी थी। मंत्री राजा का प्रमुख परामर्शक होता था तथा राजकार्य में

मंत्री की अहम भूमिका होती थी। सम्राट को सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, व कूटनीतिक स्थिति से अवगत कराकर राज्य हित में सम्यक् निर्णय लेने में सहायक की भूमिका मंत्री की होती थी।

मंत्री के कार्य एवं जिम्मेदारी राजा के समान ही थी। राज्य के करसंग्रह पर सम्यक् दृष्टि रखना, जनता के हितों को ध्यान में रखकर करारोपण के नियम निर्मित करना, जनता के दुःखदर्द की समीक्षा करना तथा उससे राजा को अवगत कराना, राज्यगत समस्याओं पर करणीय एवं अकरणीय के भेद से राजा को अवगत कराना व परामर्श देना, सम्राट के शासन को सुचारू रूप से चलाने में सम्पूर्ण मानसिक सहयोग करना, समस्त कूटनीतिक निर्णयों पर विचार विमर्श पूर्वक राज्यहित को सर्वोपरि बताना व राजा का सहयोग करना। इस प्रकार से मंत्री की स्थिति राजा के बाद राज्य में द्वितीय सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति की थी। यह राजा के पश्चात् आधिकारिक निर्णय लेने वाल राज्य का प्रमुख व्यक्ति होता था।

बिल्हण ने अपने ग्रंथ में राजा अनन्त के मंत्री हलधर द्वारा ब्राह्मणों से अग्रहार (निवास स्थान पर ग्राम) बसाये जाने का वर्णन किया है, जो मंत्री की शक्ति के प्रयोग का प्रदर्शन है–

"अस्त्यन्योन्यग्रथितलहरीदोर्लताबन्धबन्धु–
र्मध्ये यस्य क्षपितकलुषः संङ्गमः पुण्यनद्योः।
यस्योत्सङ्गे हलधरकृतास्ते जयन्त्यग्रहारा
ये धर्मस्य क्षतकलिभयाः शैलदुर्गीभवन्ति।।"[1]

---

१. विक्रमाः अष्टादशः सर्गः १६

राजगुरु–

अभिलेखों में अनेक 'राजगुरूओं' के उल्लेख हैं। ये प्रायः शैव होते थे। इनमें कई जैन भी थे। ये राजगुरू पौरोहित्य कर्म भी करते थे। परामर्शदाताओं में इनका ऊँचा स्थान था। ये आध्यात्मिक विषयों में राजा और उनके परिवार का मार्गदर्शन करते थे। राजा विक्रमाङ्कदेव द्वारा पौरोहित्य कर्म का वर्णन प्रस्तुत श्लोक में किया गया है–

"नृपेन्दुना चन्दनचारूलेखा ललाटपट्टे लिखिता दधार।
वक्त्रारविन्दस्थितसूक्तिदेवी–देवार्चनस्फाटिकलिङ्गभङ्गीम्।।"[1]

"राजा विक्रमाङ्कदेव ने अपने ललाट पर लगाई हुई चंदन की लकीर अथवा लम्बा चन्दन, उसके मुख रूपी कमल में रहने वाली सरस्वती की, महादेव की पूजा करने के स्फटिक के बने शिवलिङ्ग की समानता प्रकट करती थी।"

कुलपुरोहित–

प्राचीन काल में प्रत्येक वंश का एक–एक कुलपुरोहित होता था, जो राजा के साथ सर्वत्र गमन करता था। वैदिक युग में 'राजपुरोहितों' का कोई अलग पद नहीं था, अपितु यह मंत्री पद के साथ ही संयुक्त था। राजा की अनुपस्थिति में अमात्य या सचिव राजपुरोहित से विचार किए बिना किसी भी राजनीतिक कार्य को सम्पन्न नहीं करते थे। राजा के राजनीतिक तथा धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराने के लिए पुरोहित होते थे। इस प्रकार पुरोहित राजा का राजगुरू एवं सर्वाधिक हितचिन्तक

---

१. विक्रम. द्वादशः सर्गः ४४

था। विक्रमाङ्कदेव के जन्म के पश्चात् शास्त्रीय विधियों के ज्ञाता कुलपुरोहित द्वारा जातकर्म आदि धर्मकृत्यों को कराने वाले कुल पुरोहित का वर्णन बिल्हण ने किया है–

> अथ समुचिते कर्मण्यास्थापरेण पुरोधसा
> कथितमवनीनाथः सर्वं विधाय विधानवित्।
> प्रति मुहुरसौ सूनुस्पर्शान्महोत्सवमन्वभू–
> दिह हि गृहिणां गार्हस्थस्य प्रधानमिदं फलम्।।[१]

कोश–

आकृश्यते, कृश + अच्। खजाना– 'कोश' शब्द की व्युत्पत्ति 'कृशं' एवं 'कुश्' दोनों ही धातुओं से विद्वानों ने मानी है। प्रजा तथा अन्य साधनों द्वारा (खींचकर) जहाँ धन एकत्र किया जाएँ, वह कोश कहलाता है।

राज्य की सीमा के अन्तर्गत लगने वाले कर, लगान, सम्राट को मिलने वाला उपहार, नजराना आदि तथा सैन्य अभियान के पश्चात्–लूट सेमिली सम्पत्ति का संचय कोश के रूप में होता है। कोश की समृद्धि पर ही राजा का विकास कार्य, सैन्य–विस्तार, भव्य भवन तथा स्मारक आदि का सृजन निर्भर करता था। विक्रमादित्य षष्ठ तथा कल्याणी के चालुक्यों के द्वारा अत्यन्त मंहगे तथा भव्य भवनों के निर्माण का जो वर्णन बिल्हण ने किया है उससे उनके समृद्ध कोश का आभास मिलता है।

---

१. विक्रम. द्वितीय सर्गः ६१

कानून और न्याय–

सम्राट प्रशासन का ही प्रधान न था, वह उच्चतम न्यायालय भी था। साथ ही वह प्रधान सेनापति और सभी सम्मानों का उत्स भी था। विधायिका शक्ति जैसा कि हम उसका आज अर्थ लेते हैं, राजा में निहित न थी। किन्तु विवाद अथवा विरोध की स्थिति में राज्य का प्रधान होने के नाते उसे यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपने विधि मर्मज्ञों से परामर्श कर यह घोषित करे कि कौन सी व्यवस्था अथवा आचरण विहित है और यदि वर्तमान कानून अथवा व्यवहार में कोई व्यवस्था उपलब्ध न हो तो वह नए विनिर्णय नहीं दे सकता है।

यही प्रक्रिया अधीनस्थ न्यायालयों में भी चलती थी और ऐसा प्रतीत होता है कि कानूनों की व्यवस्था के नाम पर निर्णयों के रूप में भी पर्याप्त मात्रा में नए कानून भी बनते रहते थे। इसमें शर्त यह थी कि यह सब न्याय और अधिकारों के जो मौलिक सिद्धान्त स्मृतियों में निर्धारित और शिष्टों में नामित थे। उसी के अनुरूप होना चाहिए। कुल मिलाकर राजा न्यायपालिका का भी सर्वोच्च होता था। किसी भी विवादित या अत्यन्त गम्भीर मामले पर राजा का निर्णय ही अंतिम होता था। अर्थात् सम्राट अंतिम अपीलीय अदालत था। वैसे विवादित मामलों पर प्रायः सम्राट विधि मर्मज्ञों तथा ज्ञानी मंत्रियों की रायशुमारी से ही निर्णय लेता देता था। निरंकुशता पूर्ण निर्णय शायद नहीं दिये जाते थे। यद्यपि राजा निर्णय देने में स्वतंत्र थे। तथापि वह जनहित को ही सर्वोपरि मानते था।

दुर्ग–

कल्याणी के चालुक्यों में दुर्ग निर्माण व उसके सुदृढ़ होने के प्रति सजगता

वहाँ दुर्गों को देखकर आँकी जा सकती है। राजमहल राज्य की शासन सत्ता का केन्द्रबिन्दु तथा राजा का आवास होता था। यह कूटनीतिक, राजनीतिक व सामरिक गतिविधयाँ संचालित करने का मुख्य केन्द्र होता था। राजा के सगे सम्बन्धी राज परिवार के लोग, राजमहल में ही रहते थे। राज्य की सत्ता तथा समृद्धि का प्रतीक राजा होता था। अतः उसकी सुरक्षा भी सर्वोपरि थी।

प्राचीर–

इसीलिए सुरक्षा की दृष्टि से महलों को मोटी दीवारों वाली अत्यन्त विशाल एवं ऊँची दीवारों वाला बनाया जाता था। महलों को ही दुर्ग कहते थे। बिल्हण ने अपने ग्रन्थ में राजगृहों के अत्यधिक ऊँचे होने का वर्णन किया है–

> "यस्मिन्नुर्वीपतिगृहततेस्तुङ्गिमा वर्ण्यते किं–
> तस्याश्चञ्चच्चतुरवनिता भूषितानेकभूमेः।
> जाने यस्यां कुसुमधनुषः स्वर्गरामामनांसि
> क्रीडावातायनकृतपदस्यैव लक्षीभवन्ति।।"[1]

राजमहल केवल मजबूत और सुदृढ़ ही नहीं होते थे अपितु इन दुर्गों का निर्माण अत्यन्त मँहगे तरीके से किया जाता था। बिल्हण के वर्णनों से महलों की भव्यता तथा उनके स्वर्णादि आभूषण जटित मँहगे होने का ज्ञान होता है। महल को सुन्दर सुवर्ण निर्मित खिड़कियों से सजाया जाता था। जिससे वातानुकूलन तथा सौन्दर्य वृद्धि सुलभ भवन हो जाता था। बिल्हण ने सोने की खिड़कियाँ लगे होने का वर्णन किया है।

---

१. विक्रम. अष्टादशः सर्गः ३०

"सुवर्णवातायनतुङ्गभूमिषु,
स्थिताः प्रमोदं ददुरस्य नन्दनाः।
कृतास्पदाः स्वीयविमानशङ्कया,
प्रविश्य विद्याधरबालकाइव।।[1]

केवल खिड़कियाँ ही नहीं दीवारें भी स्वर्ण निर्मित होने का वर्णन विक्रमाङ्कदेवचरितम् में मिलता है। यदि स्वर्ण निर्मित दीवारों को हम अतिशयोक्तिपूर्ण विवेचन मान लें, तो भी इससे एक चीज स्पष्ट हो जाती है कि दीवारों के निर्माण में भी अत्यधिक धन व्यय होता था। दुर्गों के अन्दर आवागमन हेतु तथा ऊपर–नीचे आने के लिए सीढ़ियों के निर्माण में भी अत्यधिक धन व्यय होता था। दुर्गों के अन्दर आवागमन हेतु तथा ऊपर–नीचे आने जाने के लिए सीढ़ियों का निर्माण कराया जाता था। आपात्काल के समय ये सीढियाँ सुरक्षित महल से निकलने में सहायक होती थी। बिल्हणकृत वर्णन प्रस्तुत है–

"यदीयसोपानपथाधिरोहणे,
नितम्बिनिनां विनिपातभीतितः।
मयूखदण्डैस्तपनीयनिर्मिताः
करावलम्बं ददतीव भित्तयः।।[2]

"सोने की बनी इस महल की भीतें, इसकी सीढ़ियों से ऊपर चढ़ने में, बड़े–बड़े नितम्बवाली कामिनियों को गिर पड़ने के डर से, अपने किरण रूपी डन्डों से मानों उन्हें हाथ का सहारा दे रही हैं।

---

१. विक्रम. सप्तदशः सर्गः १०
२. विक्रम. सप्तदशः सर्गः ३१

गुप्तचर–

गुप्तचर विभाग राजकाज का एक आधार स्वरूप विभाग होता था। शासन प्रशासन को सुनियोजित तरीके से संचालित करने के लिए तथा वाह्य सीमाओं पर होने वाली कूटनीतिक गतिविधियों के समुचित जानकारी के लिए गुप्तचर अत्यन्त उपयोगी होते थे। राजा का कूटनीतिक कदम व आधिकारिक निर्णय गुप्तचरों की सूचना पर ही निर्भर करता था। सीमान्त देशों की कूटनीतिक चालों का जवाब प्रायः गुप्तचर की सूचना पर ही निर्भर करता था। सीमान्त देशों की कूटनीतिक चालों का जवाब राजा प्रायः गुप्तचर की सूचना पर, मंत्रियों की सलाह लेकर ही दिया करता था। राजभवन व राज्य में होने वाली गतिविधियों की सूचना सही समय पर राजा को प्राप्त कराना गुप्तचर का प्रमुख कार्य था। इन कार्यों को गुप्तचर जिम्मेदारीपूर्वक बखूबी सम्पादित करते थे।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् के नायक विक्रमाङ्कदेव के छोटे भाई जयसिंह द्वारा द्रविड़ देश के राजा को नजराना आदि देकर अपनी ओर मिलाने तथा विक्रमाङ्कदेव के विरूद्ध अभियान की योजना को सही समय पर विक्रमाङ्कदेव को देने का बिल्हण ने वर्णन किया है तथा गुप्तचर को, गुप्तचर कर्म में निपुण बताया है–

"इत्युदीर्य विरते विशारदे तत्र शारदमृगाङ्कनिर्मलः।
नाभ्यधत्त सहसा किमप्यसौ न त्वरां दधति धीरचेतसः।।"[1]

बिल्हण ने अपने ग्रन्थ में गुप्तचरों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए उनकी

---

१. विक्रम. चतुर्दशः सर्गः १४

तुलना राजा के नेत्रों से की है। कहने का आशय यह है कि राज्य की स्थिति, सीमाओं की स्थिति, तथा राज्य के अन्तर्गत चल रही कूटनीतिक गतिविधियों पर राजा गुप्तचर रूपी नेत्रों के माध्यम से ही नजर रखता था।

"मन्त्रवित्तदनु चारचक्षुषा तत्तथेति बहुधावधार्य सः।
किं विधेयमितिचिन्तयान्वितः क्ष्मापतिःस्वगतमित्यचिन्तयत्।।"[१]

"गुप्तचर के चले जाने के बाद निपुण राजा विक्रमाङ्कदेव गुप्तचर रूपी नेत्रों से अर्थात् गुप्तचरों से, जो बात मालूम हुई है वह वैसी ही है अर्थात् सत्य है, इसका हर पहलू से निश्चय कर, क्या करना चाहिए, इस चिन्ता से युक्त होकर अपने मन में सोचने लगा।"

गुप्तचर देश की सीमाओं तथा सीमान्तप्रान्तों पर ही नहीं अपितु सम्पूर्ण पृथ्वी पर होने वाली घटनाओं पर नजर रखते थे, तथा समय–समय पर उन घटनाओं की सूचना राजा को प्रेषित करते रहते थे। गुप्तचरों का सूचनातंत्र जिस राजा का जितना समृद्ध होता था, वह राजा उतना ही प्रभावशाली होता था। कहने का आशय यह है कि गुप्तचरों का तंत्र राजा के सशक्त तथा सर्वमान्य होने का आधार था।

"निवेदितश्चारजनेन नाथ तथा क्षितौ सम्प्रति विप्लवो मे।
मन्ये यथा यज्ञविभागभोगः स्मर्तव्यतामेष्यति निर्जराणाम्।।"[२]

"हे नाथ ब्रह्मा जी! गुप्तचर ने पृथ्वी पर होने वाले ऐसे उपद्रवों की मुझे

---

१. विक्रम. चतुदर्शः सर्गः १८
२. विक्रम. प्रथमः सर्गः ४४

सूचना दी है जिनसे देवताओं का, यज्ञों में मिलने वाले भागों का उपभोग, केवल स्मरण करने का ही विषय हो जाएगा, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ। अर्थात् ऐसे उपद्रवों से भविष्य में यज्ञों में देवताओं को भाग नहीं दिया जाएगा ऐसा मेरा अनुमान है।"

गुप्तचर किस प्रकार मंत्रियों तथा राजा के अन्तःकरण की बात जान लेता था तथा राजहित में वह मंत्रियों, सामन्तो तथा अन्य प्रमुख सरदारों से सम्बन्धित जानकारी उपलब्ध कराकर कूटनीतिक निर्णय लेने में सहायता करता था।

बिल्हण ने इसका उल्लेख अपने ग्रन्थ विक्रमाङ्कदेवचरितम् में किया है–

"एवमादिभिरनेन बोधितः कोविदेन वचनैः पुनः पुनः।
ज्ञातचोलहृदयः स्वयं च स प्राङ्निवेदितमगान्नदीतटम्।।"[१]

"इस चतुर व लौकिक व्यवहार में कुशल दूत द्वारा ऐसी–ऐसी बातों से बार–बार समझाया हुआ और स्वयं भी अपने गुप्तचरों से चोल राजा के हार्दिक भाव को जान लेने वाला, विक्रमाङ्कदेव, पूर्व सूचित तुङ्गभद्रानदी के तट पर गया।"

युद्ध–

अपने पराक्रम एवं पुरूषार्थ को सिद्ध करने के लिए एक राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करता था। विजित होने की स्थिति में पराजित राज्य की मान–मर्यादा एवं राजलक्ष्मी का अपहरण कर लेता था तथा अपनी इच्छाएं थोप देता था। कभी–कभी दोनों राज्यों में युद्ध द्वारा निर्णय न हो पाने पर दोनों राज्यों में संधि की स्थिति बन

---

१. विक्रम. पञ्चमः सर्गः ६०

जाती थी। जिसमें दोनों राज्यों के हितों का सम्मान करते हुए पक्षद्वय हेतु एक मसौदे पर सहमति हो जाती थी। जहाँ पर युद्ध आत्म–सम्मान वृद्धि, पराक्रम सिद्धि एवं यश हेतु होते थे। वहीं पर कभी–कभी राजाओं को आत्मरक्षार्थ भी युद्ध करना पड़ता था।

कल्याणी के चालुक्य राष्ट्रकूट वंश के स्थानापन्न थे तथा युद्ध द्वारा ही अपनी सत्ता को कायम रखे हुए थे। कल्याणी का चालुक्य शासक विक्रमादित्य षष्ट युद्ध कौशल और समराङ्गण में अपने अद्वितीय पराक्रम से समकालीन राजाओं को अपनी शक्ति का एहसास कराते हुए निष्कंटक राज्य का स्वामी बना रहा।

विक्रमाङ्कदेव में वर्णित युद्ध के उल्लेखों में कुछ का वर्णन प्रस्तुत है–

"शौर्योष्मणा स्विन्नकरस्य यस्य संख्येषु खड्गःप्रतिपक्षकालः।
पुरन्दरप्रेरितपुष्पवृष्टि – परागसङ्गान्निविडत्वमाप।।"[1]
"यस्याञ्जनश्यामलखड्गपट्ट – जातानि जाने धवलत्वमापुः।
अरातिनारीशरकाण्डपाण्डु – गण्डस्थलीनिर्लुठनाद्यशांसि।।"[2]
"स्फूर्जद्यशोहंसविलासपात्रं निस्त्रिंशनीलोत्पल मुत्प्रभं यः।
उत्तंसहेतोरिव बीरलक्ष्म्याः संग्रामलीला सरसश्चकर्ष।।"[3]

"युद्धों में पराक्रमरूपीगर्मी से, पसीने से भरे हाथ वाले राजा का शत्रुओं का कालरूप खड्ग इन्द्र द्वारा की हुई पुष्पवृष्टि के पराग के सम्बन्ध से गाढ़ापन आ जाने से, हाथ में अधिक दृढ़ हो गया। अर्थात् हाथ में पसीना आ जाने से कोई वस्तु दृढ़ता से नहीं पकड़ी जा सकती। मिट्टी लगा देने से फिर दृढ़ता आ जाती है।"

---

१. विक्रमादेवचरितम् प्रथमः सर्गः ७०
२. विक्रमादेवचरितम् प्रथमः सर्गः ७१
३. विक्रमादेवचरितम् प्रथमः सर्गः ७२

"जिस राजा तैलप के कज्जल के समान काली तलवार रूपी पट्टी से समुत्पन्न यश, शत्रुओं की स्त्रियों के सरहरी के डण्डे के समान सफेद पड़े हुए कपोलस्थलों के सम्पर्क से श्वेतवर्ण हो गये थे– ऐसा मैं समझता हूँ। अर्थात् काले रङ्ग के खड्ग से शुभवर्ण यज्ञ की उत्पत्ति असम्भव है। इसलिए यह यश का श्वेतवर्ण शत्रुओं की स्त्रियों के सफेद पड़ गए हुए गण्डस्थलों की सफेदी के सम्बन्ध से प्राप्त हुआ होगा ऐसा मै समझता हूँ।

"जिस राजा तैलप ने युद्धभूमि रूपी क्रीडासर के फैलने वाले यश रूपी हंस के क्रडास्थान भूत चमकने वाले खड्गरूपी नीलकमल को मानो वीर लक्ष्मी के शिरोभूषण बनाने के लिए खींचा। अर्थात् जिस प्रकार क्रीडावापी से हंस को आनन्दित करने वाले चमकदार नीले कमल को निकालकर कोई अपनी प्रेयसी को भूषित करता है। उसी प्रकार युद्ध भूमि से फैलने वाले यश के विना–संस्थानरूप चमकने वाले खड्ग को वीरता की शोभा के लिए उसने खींचा।"

युद्ध प्रणाली–

युद्ध के समय सैनिकों की संख्या की दृष्टि से पैदल सेना सबसे बड़ी सेना होती थी। जो सेना की अग्रिम पंक्ति होती थी। हमले का आदेश मिलते ही सेना के अग्रभाग में रहने वाले पैदल सैनिक शत्रु की सेना पर आमने–सामने के मल्ल युद्ध के लिए टूट पड़ते थे। पैदल सैनिकों के पीछे तथा बीच–बीच में अश्वारोही सैनिक जो घुड़सवारी में निपुण तथा घोड़े पर सवार होकर युद्ध करने में महारत हासिल प्राप्त थे, रहते थे। ये सेनापति तथा राजा की इच्छा से तेजी से आक्रमण करने तथा संवेदनशील परिस्थितियों में युद्ध के रूख के अनुरूप कार्य करते थे।

हस्ति सेना, सेना का पश्च भाग तथा सेना की मजबूत रक्षापंक्ति के रूप में कार्य करती थी। राजा स्वयं पूर्णतया सुरक्षित कवचों के मध्य हाथी पर सवार होकर युद्ध भूमि में आता था और युद्ध करता था।[1]

अस्त्र और शस्त्र–

किसी भी युद्ध में शस्त्र और अस्त्र युद्ध रूपी पर्वतारोहण के सोपान होते हैं। युद्ध की सफलता शस्त्रास्त्रों की कुशलता पर ही निर्भर करती है। विक्रमाङ्कदेव की सेना द्वारा प्रयोग किये गये तथा जिन अस्त्रों एवं शस्त्रों का प्रयोग होता था, विक्रमाङ्कदेवचरितम् में लगभग उन सभी का वर्णन मिलता है। वैसे तो सेना द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले औजारों में धनुष–बाण, भाला, बरछी, तलवार छूरी, गड़ासा, गुलेल आदि का बड़े पैमाने पर प्रयोग होता था।

शस्त्र और अस्त्र में अन्तर यह है कि शस्त्र को हाथ में पकड़कर चलाया जाता है और इसका हाथ से सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता, जैसे– तलवार, छूरी, धनुष आदि। जबकि अस्त्र यद्यपि हाथ से संचालित होता है तथा हाथ से फेंककर इसका प्रहार किया जाता है। जैसे– भाला, बाण, गुलेल आदि।

तलवार–

प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक तलवार प्रमुख युद्ध शस्त्र थी। विकसित नगरीय सभ्यताओं तथा आदिवासी जनजातीय इलाकों में भी तलवार ही मुख्य शस्त्र हुआ करती थी। मध्यकाल में भी उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक इसकी

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम् सप्तदशः सर्गः ४५ से ६० तक

उपयोगिता बनी रही। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में बिल्हण ने सैनिकों, सेनापतियों तथा राजा के द्वारा तलवार के प्रयोग का प्रभूत मात्रा में वर्णन किया है–

"यस्यासिरत्युच्छलता रराज धाराजलेनेव रणेषु धाम्ना।
दृप्तारिमातङ्गसहस्रसंङ्गामभ्युक्ष्य गृह्णन्निव वैरिलक्ष्मीम्।।"[1]

"जिस राजा की तलवार, युद्धों में ऊपर उठने वाले अपनी धार के जल के समान तेज से मदोन्मत्त हजारों शत्रुरूपी हाथियों के अथवा हजारों शत्रु चाण्डालों के संसर्ग दोष से अपवित्र शत्रुओं की लक्ष्मी का मानों प्रेक्षण कर ग्रहण करती हुई शोभित हुई। अर्थात् अपवित्र शत्रुलक्ष्मी पर अपनी तेजधार का पानी छिड़क, उसे पवित्र कर उसका ग्रहण किया। ("अपवित्र वस्तु पर गङ्गाजल छिड़क कर पवित्र करने की परिपाटी है।")

"सत्यत्यागप्रमुखनिखिलोत्कर्षसम्पत्तिसीमा,
तस्मिन्नासीदवनिवनितावल्लभोऽनन्तदेवः।
वैरिस्तम्बेरमघनघटागर्जितानामगम्ये,
चक्रे धारायपसि यदसेः कीर्तिहंसी निवासम्।।"[2]

"उस प्रवरपुर में सत्य, त्याग आदि समग्र उत्कर्ष रूपी सम्पत्ति के सीमास्वरूप पृथ्वीरूपी स्त्री के पति राजा अनन्तदेव राज्य करते थे। शत्रु के हाथी रूपी मेघों की गर्जनाओं के लिए अगम्य जिसके खड्ग, के धारारूपी जल में कीर्तिरूपी हंसी निवास करती थी। अर्थात् तलवार की तीखी धार से शत्रुओं का नाश करने से

---

१. विक्रम. प्रथमः संर्गः १०४
२. विक्रम. अष्टादशः सर्गः ३३

उसकी कीर्ति चारों ओर फैल गई थी।"

धनुष–बाण–

धनुष–बाण युद्ध के प्रमुख अस्त्र के रूप में प्रयोग में लाया जाता था। युद्ध के समय सेना का एक भाग जो धनुष–बाण चलाने में निपुण होता था। शत्रु सेना पर घातक हमला करता था। धनुर्धारियों के प्रचण्ड प्रहार से युद्ध के परिणाम के परिवर्तित होने के उल्लेख भारतीय इतिहास में प्रर्याप्त रूप में मिलते हैं। यद्यपि धनुष–बाण का उल्लेख तो प्राचीन काल से ही मिलता है तथापि इस काल में धनुष–बाण ने युद्ध के शस्त्रास्त्रों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। बिल्हण ने अपने ग्रन्थ में इसका सेनाओं द्वारा प्रयोग होते हुए तथा उपमाओं में बारम्बार उल्लेख किया है–

"अतिष्ठदंसे सुभटस्य चञ्चलं शिरः,
क्षुरप्रेण यदर्धखण्डितम्।
तदेष वामेन विधृत्य पाणिना,
प्रधावितः कं न चकार वंदिनम्।।"[१]

"विशिष्ट बाण से आधा कटा हुआ और हिलता हुआ जो सिर उस वीर के कन्धे पर था उस बाएं हाथ से पकड़कर दौड़ पड़े उस वीर ने किसको अपना स्तुति पाठक नहीं बनाया अर्थात् सब उसकी स्तुति करने लगे।"

धनुष–बाण की शिक्षा तथा उसके अभ्यास पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। बिल्हण ने अपने ग्रन्थ में राजकुमारों के धनुष–बाण का अभ्यास करने का वर्णन

---

१. विक्रम. सप्तदशः सर्गः ४८

किया है—

"अभ्यासहेतोः क्षिपतः पृषत्कान् नरेन्द्रसूनोः सकलासु दिक्षु।
प्रहारभीतेव परिभ्रमन्ती पार्थस्य कीर्तिर्विरलीबभूव।।"[1]

"अभ्यास करने के लिए सब दिशाओं में बाणों को चलाने वाले उस राजपुत्र के बाणों के प्रहार के भय से मानों डरी हुई, चारों ओर भागने वाली (अर्जुन के पक्ष में) चारों ओर फैली हुई अर्जुन की बाण चलाने की कीर्ति संकुचित हो गई। अर्थात् अभ्यास काल में ही वह राजपुत्र बाण चलाने की कला में अर्जुन से भी कुशल था।"

धनुष की डोरी और तरकस के चित्रण वाला अंश प्रस्तुत है—

"सौवर्णकङ्कणश्रेण्या भाति तद्बाहुकन्दली।
तूणा चम्पकमौर्व्येव पुष्पचापेन वेष्टिता।"[2]

"सोने के अनेक कंगनों से घिरी हुई चन्द्रलेखा की भुजलता मानों कामदेव द्वारा चम्पे के फूलों की धनुष की डोरी से लपेटे हुए तरकस की शोभा दे रही थी।"

गड़ासा—

गड़ासे का भी युद्ध में प्रयोग होता था। तलवार के समान ही गड़ासा भी प्रमुख शस्त्र था। हमलों के समय गड़ासे से प्रत्यक्ष प्रहार किया जाता था। बिल्हण ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

---

१. विक्रम. तृतीया सर्गः १८
२. विक्रम. अष्टमः सर्गः ५६

"असिना विशिखैः सतोमरैः सहसा कुञ्जर धावनेन च।
स सहस्रमिवोद्वहन्करान् प्रतिपक्षक्षयदीक्षितोऽभवत्।।"[1]

"वह विक्रमाङ्कदेव तलवार को गड़ासे को और बाणों को सतत चलाता हुआ, और शीघ्रता से हाथी को दौडाने से मानों हजारों हाथों को धारण करता हुआ शत्रुओं के नाश करने में तत्पर हो गया।"

गुलेल–

ग्रामीण इलाकों में तथा समाज के सामान्य वर्ग के मध्य के शिकार के लिए तथा कभी–कभी दूर वाले लक्ष्य को साधने के लिए प्रयोग में लाया जाता था। यह मुख्य रूप से बहेलिया द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला हथियार था। युद्ध के समय निशाना लगाने में निपुण सैनिकों को गुलेल के प्रयोग के लिए आक्रमण पंक्ति में रखा जाता था। बिल्हण ने अपने ग्रन्थ के तेरहवें सर्ग में गुलेल के प्रयोग का वर्णन किया है–

द्रवन्ति हंसाः सुरचापचुम्बिनः पयोदवृन्दान्निपतत्सु विन्दुषु।
प्रवर्तमानां गुलिकाधनुर्मुखाद् विशङ्कमाना इव गोलकावलिम्।।"[2]

हंसलोग इन्द्रधनुष तक ऊँचे पहुँचे हुए मेघों से गिरने वाली बूंदों को मानो गुलेलों से छूटी हुई गोलियों का सन्देह कर जोरों से भाग रहे हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी में सेनाओं द्वारा तथा अन्य सुरक्षार्थ प्रयोग में लाये जाने वाले शस्त्रास्त्रों का वर्णन करने के अतिरिक्त कुछ अन्य भी शस्त्रास्त्र थे व्यापक

---

१. विक्रम. पञ्चदशः सर्गः ६४
२. विक्रम. त्रयोदशः सर्गः ३३

पैमाने पर जिनका प्रयोग होता था वो ये ही थे। कही–कहीं पर कवि ने सबका एक साथ वर्णन किया है–

> असिना विशिखैः सतोमरैः सहसा कुञ्जरधावनेन च।
> स सहस्रमिवोद्वहन्करान् प्रतिपक्षक्षयदीक्षितोऽभवत्।।[1]

युद्ध की शैली–

युद्ध के समय अपनाये गये तरीकों, आक्रमण करने की योजना, सेनापति द्वारा सेना का संचालन, सेना के आक्रमण का क्रम तथा उसका टुकड़ियों में आक्रमण करना आदि युद्ध की शैली के अन्तर्गत आने वाले तरीके हैं। हर राजा की अपनी–अपनी युद्ध शैली होती थी। युद्ध करने की विधि प्रायः राजा व सेनापति के विचारों के अनुरूप होती थी। सेना का आकार तथा सेना की मात्रा से अधिक महत्वपूर्ण युद्ध की शैली होती थी। इतिहास में इसके कई साक्ष्य मिलते हैं कि कुशल सेनापतित्व तथा युद्ध की शैली ने अप्रत्याशित परिणाम दिलाया है। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है–

> अपारवीरव्रतपारगस्य पराङ्मुखा एव सदा विपक्षाः।
> अधिज्यचापस्य रणेषु यस्य यशः परं सम्मुखमाजगाम्।।[2]

युद्धक्षेत्र में असीम वीरव्रत में पारङ्गत, चढ़ी कमान वाले धनुष को धारण करने वाले उस राजा के सामने से शत्रु लोग पराङ्मुख होते थे किन्तु कीर्ति उसके

---

१. विक्रम. पञ्चदश सर्गः ६४
२. विक्रम. प्रथमः सर्गः ८५

सम्मुख आती थी।

अन्यच्च–

अवन्ध्यपातानि रणाङ्गणेषु सलीलमाकृष्टधनुर्गुणस्य।
यस्यानमत्कोटितया व्यराज–दस्त्राणिचुम्बन्निव चापदण्डः।।[१]

युद्ध की नीति–

वे आचार–विचार नियम एवं मानदण्ड जिनके अनुसार युद्ध किया जाता था। वे युद्ध नीति के अन्तर्गत आते हैं। प्राचीन काल से ही युद्ध सत्ता की नियामकता, शाश्वतता और राजा एवं राज्य के वैभव का परिचायक रहा है। इन युद्धों के हमेशा अपने कुछ वसूल या सिद्धान्त होते रहे है जिनके अनुसार युद्ध लड़े जाते थे। स्थान, देश, काल और परिस्थितियों, के अनुसार युद्ध नीति भी अलग–अलग होती थी। हमेशा युद्ध किसी उद्देश्य विशेष के लिए लड़ा जाता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो नीतियाँ बनाई जाती थी और उस पर अमल जिस विधि से होता था, वह युद्ध नीति कहलाती थी।

दक्षिण भारतीय राजाओं में कल्याणी के चालुक्य पराक्रमी एवं यशस्वी राजा थे। इन्होनें अपनी युद्ध नीति में कहीं पर शक्तिपूर्वक सैन्य प्रदर्शन तो कहीं पर कूटनीति से राजनीति पूर्वक राजाओं का समर्थन एवं सहयोग प्राप्त किया। वे राजा जिनको सैन्य शक्ति से जीता जा सकता था। उनको आक्रमण करके तथा जिनको अपनी सैन्य शक्ति से नहीं जीता जा सकता था। उनको कूटनीति एवं बलपूर्वक

---

१. विक्रमः प्रथमः सर्गः ७६

बिना युद्ध किये अपने अधिकार में कर लिया जाता था।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् के नायक विक्रमाङ्कदेव के छोटे भाई जयसिंह द्वारा अपनायी गयी कूटनीतियाँ विक्रमाङ्कदेव के विरूद्ध थी इसका वर्णन बिल्हण ने चतुर्दशः सर्ग में किया है—

"द्राविडं स नृपतिं सहायतां प्राषयत्यविरतैरूपायनैः।
कर्तुमिच्छति न कैरूपक्रमैर्भेदजर्जरमिदं भवद्बलम्।।[1]

वह सिंह देव लगातार नजरानों को देकर द्रविड़ देश के राजा को अपनी सहायता करने में तैयार कर रहा है। किन–किन उपायों से इस आपकी सेना को भेदनीति से नष्ट–भ्रष्ट कर देना नहीं चाहता है अर्थात् हर प्रकार से आपकी सेना को नष्ट–भ्रष्ट कर देना चाहता है। बिल्हण अपने महाकाव्य विक्रमाङ्कदेवचरितम् में युद्ध नीति का वर्णन करते हुए युद्ध के समय किसको मारना चाहिए ये बताते हैं।

"उत्कन्धरानेव रणाङ्गणेषु यस्यातितुङ्गस्य हठात्प्रहर्तुः।
न नम्रभावादपरो नृपाणामासीत्कृपाणप्रतिषेधमार्गः।।"[2]

रणभूमि में अभिमान से ऊँची गर्दन कर युद्ध के लिए आने वालों को ही चुन–चुन कर मारने वाले उस अत्युन्नत राजपुत्र की तलवार के प्रहार से विपक्षी राजाओं को बचने का उपाय, नम्रता से पराजय स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त दूसरा नहीं था।

---

१. विक्रम. चतुर्दशः सर्गः १२
२. विक्रम. तृतीय सर्गः ६६

सेना–

(सिनोति, षित्र् (बन्धने) + न + टाप् – सेना, बल फौज)– शत्रु को बांध लेने के कारण अथवा सेनापति के साथ विद्यमान रहने के कारण बल को 'सेना' कहा गया। वैदिक वाङ्मय में सेना प्रथमतः 'क्षेप्यास्त्र' का द्योतक है जो आशय ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में मिलता है और उसके बाद 'आक्रमण' अथवा 'सेना को' जो इसका सामान्य अर्थ[3] में मिलता है। यास्क ने भी सेनापति के साथ विद्यमान रहने के कारण (सेश्वरा समानगतिर्वा) इसे 'सेना' कहा है। इस प्रकार विद्वानों के अनुसार इस शब्द का अर्थ हुआ– क्षेप्यास्त्र। संभवतः शत्रु को मारने के लिए सम्पूर्ण सेना आज की भांति लगा दी जाती थी, इसीलिए सेना का अर्थ पहले से ही क्षेप्यास्त्र प्राप्त होता है।

प्राचीन भारत में राज्य के सप्तांगों में सेना अथवा बल को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। प्राचीन विद्वानों के अनुसार सेना रहित राज्य अंगहीन पुरुष के समान आत्मरक्षा में असमर्थ होता है। अतः देश एवं प्रजा की रक्षा हेतु सेना राज्य का एक अत्यन्त अनिवार्य अङ्ग है। चतुरंगिनी सेना– राजाओं के आश्रय में चारों प्रकार की सेना रहती थी जिसे 'चतुरंगिनी' सेना कहा जाता था, जिसके अंतर्गत पदाति, रथ, अश्व और गजसेना आती थी। वैदिक युग तक चतुरंगिनी सेना का विकास नहीं हुआ था। इस समय केवल द्विअंगिनी सेना का ही वर्णन प्राप्त होता है।

---

१. अथर्वः ८/८/७, ११/१०/४
२. ऋग्. १/३३/६, ७/२५/१, ६/६६/१, १०/१०३/१
३. ऋग्. १०/१२१/२

सेना के दो अंग पदाति और रथारोही थे। कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक युग में अश्वारोही सेना भी थी किन्तु अधिकाश विद्वान् इससे असहमत हैं। अश्वारोही सेना का उदय वैदिक युग के पश्चात् हुआ।[1]

जो भी हो विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे चारों प्रकार की सेनाओं का वर्णन मिलता है। इसमें रथ सेना का वर्णन तो विक्रमाङ्कदेवचरितम् में नहीं मिलता किन्तु अभिलेखों तथा तत्कालीन ऐतिहासिक स्रोतों से इसकी जानकारी मिलती है। विक्रमाङ्कदेवचरितम् के चतुर्दशसर्ग में राजा विक्रमाङ्कदेव (षष्ठ) द्वारा अपने धोखेबाज भाई जयसिंह के विरूद्ध चतुरंगिनी सेना को लेकर कृष्णा नदी के किनारे आकर डटने का वर्णन है। चतुर्दशसर्ग में विक्रमादित्य षष्ठ की विशाल चतुरंगिनी सेना का विस्तार से वर्णन किया गया है।

उस समय की कर्नाटक की सेना का आधार पर्याप्त विस्तृत रहा होगा। वह एक राष्ट्रीय सेना थी, न कि सिर्फ क्षत्रियों की। सेना में अनेक प्रसिद्ध ब्राह्मण सेनापतियों की उपस्थिति और आवश्यकता पड़ने पर कारीगरों और व्यापारियों के भी शस्त्र ग्रहण कर लेने के उदाहरण इसी निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं। सोमदेव सूरि ने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' में सेना का जो विवरण दिया है वह रोचक है।

समय की दृष्टि से वह चालुक्यों के निकट भी है, अतः उसका संक्षिप्त उल्लेख किया जा सकता है। सोमदेव के वर्णन के अनुसार पैदल सेना के सैनिक लाल पगड़ियाँ पहनते थे। ये ऊपर की ओर पतली होती जाती थी। इस प्रकार वे

---

१. वेदकालीन राज्य व्यवस्था, डॉ० श्यामलाल, पृष्ठ १७६–१७७

एक–श्रृङ्गों की पंक्तियों की भॉति दीखते थे। वे दाढ़ियाँ मुड़वा देते थे। वे अपनी ढकी गर्दनों पर विभिन्न रंगों के मनकों के तिलडे हार पहनते थे। सैनिक साँप के आकार के लोहे के मणिबन्ध धारण करते थे। उनकी कमर पर छुरा होता था। कमर में अपने कपडे कसकर बाँधते थे और अनेक प्रकार के अस्त्र–शस्त्र धारण करते थे।

सेना के आगे–आगे चारण उनकी शौर्य की गाथा कहता चलता था और उन्हें कुछ कर दिखाने को उत्साहित करता रहता था। सैनिक के आदर्श उच्च्य थे, जय या मृत्यु। युद्ध से पीठ दिखाने पर कलंक का जो टीका लगता था वह कभी मिट नहीं सकता था।

अभिलेखों में इस सम्बन्ध में संस्कृत के दो श्लोक अक्सर मिलते हैं जिनसे इस आदर्श की मान्यता प्रमाणित होती है। इनमें एक श्लोक में युद्ध में आगे बढ़कर मृत्यु का वरण करने वाले सैनिक को योगी कहा गया है। उसे सूर्यमण्डल को भेदकर स्वर्ग में यश प्राप्त होता है।

दूसरे श्लोक में शौर्य की प्रशंसा में कहा गया है कि इससे विजयी होने पर यश और मृत्यु की स्थिति में स्वर्ग के सदस्यों का साथ मिलता है। युद्ध में मृत्यु की परवाह नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जीवन तो छोटा होता ही है।

युद्ध में सफलता मिलने पर किस प्रकार की प्रशंसा मिलती थी। इसका एक खास उदाहरण बेल्लारी जिले का एक अभिलेख है जिस पर कोई तिथि नहीं है। इसमें लिखा है कि महामण्डलेश्वर वर्म देवरस पहले लक्ष्मी का पति हुआ, फिर उस देवी का बल्लभ हुआ, "श्री–बधगीशनागि जयलक्ष्मिणे–बल्लभ नागि भारत देविगे नल्ल नागि।" विक्रमाङ्कदेव में वर्णित सैन्य विवरण से तीन प्रकार की सेना की सूचना

हमें प्राप्त होती है। पैदल सेना अश्वारोही सेना तथा हस्ति सेना। सेना के प्रताप से प्रभावित प्राकृतिक सोपानों के वर्णन वाला, अंश उद्धृत है–

"तच्चमूपरिकरेण पीड़िता कृष्णवेणिरधिगम्य तानवम्।
सिन्धुपार्श्वमिव गन्तुमक्षमा रोषतः कलुषतामदर्शयत्।।"[१]

उस सिंहदेव की सेना के समूह से अथवा सेना के व्यापार से पीडित कृष्णानदी ने कृशता को प्राप्त होकर समुद्र के पास जाने में असमर्थ होने के कारण मानों क्रोध से मलिनता को प्रकट किया। अर्थात् अधिक संख्या का मनुष्यों द्वारा अधिक जल खर्च कर दिये जाने से कुछ सूख गई अतएव मटमैली हो गई।

सेना के गुण

साहसी–

सेना में उन्हीं लोगों को लिया जाता था, जो साहसी, वीर और पराक्रमी होते थे। क्योंकि भीरु, डरपोक और क्षीण मनोबल वाले सैनिक युद्ध जैसे साहसपूर्ण कार्यों के सर्वथा अयोग्य समझे जाते थे। कल्याणी के चालुक्य अपनी उत्साही सेना के बल पर ही दक्षिण भारत में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर सके थे।

स्वामिभक्त–

सेनाओं को पूर्णतया स्वामिभक्त होना चाहिए। चालुक्य सम्राट, अपनी वफादार सेनाओं के आधार पर ही सर्वत्र अपना विजय अभियान चला सके। एक वफादार

---

१. विक्रम. चतुर्दशः सर्गः ५३

सेना किसी भी राज्य/राजा की सबसे बड़ी शक्ति होती है।

हस्तिसेना–

हस्तिसेना विक्रमादित्य की सेना का प्रमुख अंग थी। हाथी जहां पर युद्ध काल में सर्वाधिक मालवाहक के रूप में प्रयुक्त थी वहीं पर प्रमुख सेनापति तथा सम्राट स्वयं भी हाथी पर सवार होकर ही सेना के आगे–आगे युद्ध लड़ता थी। हस्तिसेना के वर्णन वाले कुछ अंश–

"पन्नगेश्वरफणासु तद्बल–क्षुण्णरेणुतलिनापि सर्वतः।
आर्द्रतां गजमदाम्बुभिर्गता भूमिरित्यधिकमाप गौरवम्।।"[1]

अपि च–

"उन्मदद्विरदहस्तशीकर–श्रेणिभिर्नभसि तस्य दर्शिता।
रेणुहारित पथस्य भास्वतश्चूर्णितः इव रथेन तारकाः।।"[2]

अपि च–

"भास्वतः करिभयावगाहनाद् वाहनैरिव निपातितोऽरूणः।
कुम्भिकुम्भतट चीन पिष्टतः प्राप रेणुविसरः क्षमातलम्।।"[3]

अश्वसेना–

जहाँ पर हस्तिसेना भारी वाहन तथा युद्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण थी वहीं पर द्रुतगति से आक्रमण करने तथा एक आक्रामक सैन्य प्रबन्धन के लिए किसी भी

---

१. विक्रम. चतुर्दशः सर्गः ६१
२. विक्रम. चतुर्दशः संर्गः ६५
३. विक्रम. चतुर्दशः संर्गः ६८

शक्तिशाली सेना का आवश्यक अंग थी। घोडे के सैन्य प्रयोग वाले वर्णन अत्यन्त उत्कृष्ट हैं–

"पस्पृशुर्न पृथिवीं तुरङ्गमा स्पर्धयेव दिननाथवाजिनाम्।
भोगिभर्तुर भवन्मतङ्गज–स्थान एवनितरां परिश्रमः।।"[1]

"घोड़े सूर्य के घोड़ों की स्पर्धा से मानों पृथ्वी का स्पर्श भी नहीं करते थे। शेषनाग को हाथियों को धारण करने में ही अत्यन्त परिश्रम हुआ। अर्थात् घोड़ों के कम काल तक पृथ्वी पर रहकर अधिक काल तक आकाश में चलते रहने से उनका कोई बोझन हुआ।"

युद्ध वाद्य–

सेनाओं का मनोबल बढ़ाने, उन्हें उत्साहित करने, युद्ध की विभिन्न स्थितियों जैसे–आक्रमण, समापन, युद्ध विराम सेनापति के द्वारा नेतृत्व प्रदान करना आदि के लिए युद्ध वाद्यों का प्रयोग किया जाता था। सेनाएँ जब राजमहल से प्रस्थान करती थी तो तुरही वाद्य की आवाज के साथ नगाड़े–दुन्दुभि आदि वाद्य बजाये जाते थे। समराङ्गण में जब दोनों सेनायें आमने–सामने डट जाती थी तो अपनी–अपनी सेना के सतर्क (Attention) हो जाने पर तथा राजा और सेना के तैयार होने का सङ्केत मिलते ही रणभेरी बजायी जाती थी। जो युद्ध प्रारम्भ करने का सङ्केत होती थी और रणभेरी बजते ही रणवीरों की भुजाएँ फड़क उठती थी।

कभी–कभी युद्ध के बीच में ही युद्ध विराम करवाना होता था तो इसकी सूचना समस्त सेना को इन्हीं युद्ध बाद्यों द्वारा ही दी जाती थी।

---

१. विक्रम. चतुर्दशः सर्गः ६४

बिल्हण ने युद्ध–वाद्यों में नगाड़े–दुन्दुभि का प्रयोग किया है–

"न क्षितीन्द्रपटहस्वनोऽभवद् दिक्करिश्रवणपाटने पटुः।
यत्सुदीर्घकररन्ध्रपूरणादल्पतां प्रथममाससाद सः।।"[1]

"राजा के नगाड़ों का शब्द दिग्गजों के कानों को फोड़ देने में समर्थ न हो सका क्योंकि वह पूर्व में हाथियों के सूड़ों के छिद्रों में प्रविष्ट हो जाने से कम हो गया था।"

"भूपतेः समभरेण दन्तिनां दूरमानमति भूमिमण्डले।
नूनमम्बुदनिनादमेदुरः प्राप दुन्दुभिरवश्चिरान्नभः।।"[2]

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित तुरही के प्रयोग वाला अंश उद्धृत है–

"कियतीमपि तीव्रविक्रमः समतिक्रम्य वसुन्धरां ततः।
अवलोकयति स्म भूपतिः प्रसरत्तूर्यरवं द्विषद्बलम्।।"[3]

इसके अनन्तर प्रबल पराक्रम वाले विक्रमाङ्कदेव राजा ने थोड़ी दूर पृथ्वी पर आगे बढ़कर फैलने वाले तुरूही के शब्दों से युक्त शत्रु की सेना को देखा।

दूत–

राजकीय परम्परा में समाचारों का आवापोद्याप अन्तःपुर में, एवं राजा का संदेश मंत्री के पास, राजा का संदेश सेना के पास तथा इसी तरह के संदेश प्रेषण एवं एक स्थान से सूचना दूसरे स्थान पर पहुँचाना जहाँ पर दूत का आंतरिक कार्य

---

१. विक्रमः चतुर्दशः सर्गः ५६
२. विक्रमः चतुर्दशः सर्गः ६०
३. विक्रमः पञ्चदशः सर्गः २३

था वहीं पर एक राजा का संदेश दूसरे राजा के लिए राजनीतिक, कूटनीतिक, विचारविमर्श जो एक राज्य से दूसरे राज्य के मध्य चलते रहते थे, उनका माध्यम दूत ही हुआ करता था। यद्यपि दूत राजकीय पदों में चतुर्थ श्रेणी का कर्मचारी होता था किन्तु दूत के पद पर प्रायः वाक्पटु, नीतिमान एवं राजभक्त प्रकृति के ही लोग रखे जाते थे। इनकी कार्यकुशलता पर ही राजकीय संबंध एवं दो राज्यों के मध्य सम्बन्धों का अच्छा बुरा होना निर्भर करता था। ऐतिहासिक एवं साहित्यिक स्रोतों में ऐसे कई अवसर देखने को मिलते हैं जब दूत की बौद्धिक कुशलता के कारण युद्ध की आसन्न स्थिति टल गयी है।

महाकवि बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेव के दूत का रानी के पास संदेश ले जाने का वर्णन किया है–

"श्रोतामृतस्य स्फटिक प्रणालीं दिव्याम्बुधारां स्मरचातकस्य ।
वार्ता गृहीत्वा हरिणेक्षणायाश्चरः क्षमाभर्तुरथाजगाम्।।"[१]

इस प्रकार चन्देलदेवी के विरह संताप से बहुत पीड़ित होने पर राजा विक्रमाङ्कदेव का दूत, कर्ण को सुख देने वाले अमृत के बहने के लिए स्फटिक की बनी नाली के रूप तथा कामरूपी चातक के लिए स्वर्गीय जल धारा के स्वरूप, उस मृगनयनी चन्दलदेवी की खबर लेकर आ गया।

---

१. विक्रम. नवमः सर्गः २५

षष्ठ अध्याय

१. धर्म

२. दर्शन

धर्म

ध्रियते लोकेऽनेन धरति लोकं, वा धृ (धारणे) + मन्, संस्कृत तद्भव)– जिस नैतिक, या शुभ कर्म द्वारा जीवन, परिवार, समाज, राष्ट्र धारण किया जाए, वह धर्म कहलाता है। मानव समाज के विकास के साथ धर्म की परिभाषा में भी सदैव विकास होता रहा है, जिसका प्रयोग ऋग्वेद की ऋचाओं में विशेषण रूप में या संज्ञा के रूप में हुआ है। ऋग्वेद के अधिकतर स्थानों पर यह शब्द वेद–विहित धार्मिक विधियों या धार्मिक संस्कारों के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है।[१] अथर्ववेद में धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया–संस्कार करने से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है।[२] ऐतरेय ब्राह्मण में 'धर्म' शब्द सकल धार्मिक कर्त्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[३] छान्दोग्य उपनिषद् में 'धर्म' तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है– १. यज्ञ, अध्ययन एवं दान अर्थात् गृहस्थ धर्म, २. तपस्या अर्थात् तापस् धर्म, ३. ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य गृह में अन्त तक निवास करना।[४]

इस प्रकार वैदिक युग में 'धर्म' का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है, किन्तु धीरे–धीरे बाद में यह मानव के विशेषाधिकारों, कर्त्तव्यों, विधियों का द्योतक, आर्य

---

१. अथर्व. १/२२/१८, ५/२६/६, ७/४३/४, ६/६४/१

२. ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यदुच्छिच्टे वीर्य लक्ष्मीर्बलं बले। अथर्व. ६/६/१७

३. धर्मस्य गोप्ताजनीति तमभ्युकृष्टमेवविदभिषेक्ष्योन्नतयार्चाभिमन्त्रयेत। एत०ब्रा०। ७/१७।

४. त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति, प्रथमस्तय एवेंति द्वितीयो ब्रह्मचर्यायाचार्य कुलवासी तृतीयोऽत्यन्तयात्मानमाचार्य कुलेऽवसादन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोत्मृतत्वमेति। छान्दो० २/२३

जाति के सदस्य की आचार विधि का बोधक एवं वर्णाश्रम का द्योतक हो गया। तैत्तिरीयोपनिषद् में छात्रों के लिए जो 'धर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है वह इसी अर्थ में है यथा– 'सत्यं वद', 'धर्मम् चर'[1] आदि। याज्ञवल्क्य भी इसी अर्थ का समर्थन करता है।[2] मनुस्मृति के अनुसार मुनियों ने मनु से सभी वर्णों को धर्म–शिक्षा देने के लिए प्रार्थना की है।

ग्यारहवीं शताब्दी की धार्मिक अवस्था पर विचार करते समय पहली बात जिसकी ओर हमारा ध्यान जाता है वह यह है कि उस समय धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण था। सभी धर्मों के अनुयायी दूसरों के प्रति आदर नहीं, तो सहनशीलता अवश्य प्रकट करते थे। इन सभी को राजाओं और सरदारों का निष्पक्ष आश्रय प्राप्त था। ब्राह्मण हिन्दू धर्म में शैव और वैष्णव दो मुख्य सम्प्रदाय थे। अनुयायियों की सङ्ख्या की दृष्टि से शैव–सम्प्रदाय अधिक महत्त्वपूर्ण था। शाक्त संप्रदाय की देवी कोल्लापुर की महालक्ष्मी थी, और कार्तिकेय की पूजा का स्थान इसके बाद आता है। बेल्लारी जिले में कुडितनि कार्तिकेय की पूजा का मुख्य गढ़ था। दूसरे धर्मों में बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म का अधिक प्रचार था। इसके अनुयायियों की सङ्ख्या भी अधिक थी।

लिङ्गायत सम्प्रदाय के रूप में कलचुर्यों के शासनकाल में शैवों का अतीव पुनरूत्थान हुआ। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक 'बसव' थे। किन्तु इस सम्प्रदाय का इतिहास परस्पर विरोधी प्रमाणों से भरा है। इनकी अनुश्रुतियाँ एक दूसरे का खण्डन

---

१. तैत्ति० उप० १/११
२. वा० रा० ३/८/२६

करती हैं। शैव धर्म के विकास के एक चरण के रूप में कर्नाटक पर लिङ्गायत सम्प्रदाय के प्रभाव की अपेक्षा कन्नड गद्य साहित्य को इसकी देन का अधिक महत्त्व है। इस दृष्टि से वीर शैवों के साहित्य पर हम बाद में विचार करेंगे। वीर शैव लिङ्गायत संप्रदाय का ही दूसरा नाम है।

यद्यपि विभिन्न सम्प्रदायों में बराबर शास्त्रार्थ हुआ करता था तथापि धार्मिक क्षेत्र में कितनी शान्ति थी, इसके प्रमाण में अभिलेखों में आए मङ्गलाचरणों का उल्लेख उचित होगा। ''१११६ ई० के कुडितनि अभिलेख'' का प्रारम्भ शम्भु, वराह, सुब्रह्ममण्य और विघ्नेश की प्रार्थना से होता है। इसमें एक बगीचे क़े साथ शिव के एक मन्दिर, सरस्वती और विनायक के आयतन और एक सभामण्डप के निर्माण का उल्लेख है। ''११४८ ई० के पेद्दतुंबलम अभिलेख'' में शम्भु से पहले गणपति की प्रार्थना है।

११५३ ई० के बागली के एक अभिलेख के मङ्गलाचरण में ब्रह्म, शिव, गणपति और वराह–विष्णु की प्रार्थना है। इसके अलावा– १०६५–६६ ई० के डंबल के अभिलेख में तारादेवी की प्रार्थना है। यह लेख स्पष्ट ही, पर दबे स्वरों में, साम्प्रदायिक ही है।

इसी प्रकार ११६० ई० के बागली के सूर्यनारायण के मन्दिर से सम्बद्ध एक लेख में लक्ष्मीनारायण की प्रार्थना है।

बादामी के बेलूर के १०२२ ई० के एक लेख में बताया गया है कि जयसिंह द्वितीय की बड़ी बहन अक्का देवी ने जिन, बुद्ध, अनन्त (विष्णु) और रूद्र (शिव) के आगमों में उल्लिखित सभी धर्म (पुण्य के काम) पूरे किए थे। अन्य अभिलेखों से भी इसके इस दावे की पुष्टि होती है। उसने अरसिबीडी और सूडि में बहुत से दान दिए थे। उसने अरसिबीडी में गुडदवेडग्गि[1] में जिनालय और उसके भिक्षुओं को तथा सूडि में शिव के एक मन्दिर को दान दिया था।

होसूर के १०२८ ई० के एक अभिलेख में जैन और वैष्णव प्रार्थनाएं है। इसमें एक गावुन्ड द्वारा अपनी पत्नी की स्मृति में 'परोक्ष विनय' (किसी की स्मृति में बसदि) के निर्माण का उल्लेख है। दक्षिण भारत के ऐतिहासिक काल में इस प्रकार की यादगारों का अन्य की अपेक्षा शैवों में अधिक प्रचार था।

विभिन्न धर्मों के मध्य सहिष्णुता एवं सहनशीलता उन राजाओं के कारण न थी जिनके राज्य में नाना धर्मों के अनुयायी बसते थे तथापि राजाओं की इस प्रकार की नीतियों का जनता पर प्रभाव अवश्य पड़ता था। वस्तुतः हिन्दू धर्म एक ऐसा महल है जिसमें कितनी ही हवेलियां है और इसीलिए इसमें अनीश्वरवादियों, बौद्धों और जैनों सभी को साथ–२ रहने की पूरी संभावना बन जाती है। यद्यपि इन धर्मों में समान रूप से वेदों का और दूसरे रूपों में भी हिन्दू धर्म का विरोध दिया है। राजा दानों के माध्यम से धर्म के प्रति अपनी रूचि का ही प्रदर्शन नहीं करते थे अपितु इनके माध्यम से वे जन कल्याण के कार्य भी करते थे।

---

१. दक्कन का प्राचीन भारत का इतिहास– जी. याजदानी।

दान—

१०६२ ई० में विक्रमादित्य षष्ठम् ने अनेक 'महादान' किए थे जिनमें एक दान 'विश्वचक्र' का भी था यह सोने का एक चक्र होता था जो सम्पूर्ण विश्व का प्रतीक था। 'महादानों का' यह उल्लेख इस दृष्टि से महत्त्व का है कि इस प्रकार की प्रथा दकन में हेमाद्रि के 'दान खण्ड' की रचना से पूर्व भी प्रचलित भी। 'दानखण्ड' दानों का सिलसिले वार वर्णन है।

वैदिक धर्म के कर्मकाण्डीय स्वरूप के उल्लेख भी इस महाकाव्य में प्राप्त होते हैं। वैदिक युग में धर्म के अंग समझे जाने वाले यज्ञ, तप, दान आदि का समाज पर प्रभाव बना हुआ था। इससे स्पष्ट है कि परवर्ती नए धार्मिक विचारों के साथ—साथ वैदिक धर्म के प्रति भी आस्था अक्षुण्ण बनी रही जैसाकि इस महाकाव्य में प्राप्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है। वैदिक यज्ञों का महत्त्व भी इस काल में अक्षुण्ण बना रहा। राजा गण पुत्र प्राप्ति के लिए सम्प्रभु सम्राट बनने के लिए, लौकिक अभ्युदय आदि के लिए यज्ञ करते थे। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में यज्ञ का वैसा सांगोपांग चित्रण नहीं मिलता जैसा कि वैदिक वाङ्मय अथवा बाद के महाकाव्यों में प्राप्त होता है। उपमाओं के माध्यम से या अन्य वर्णनों के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए राजागण यज्ञों का सहारा लेते थे।[१]

---

१. अष्टा. १/२/३४, ८/२/२२

तीर्थ स्थल–

तीर्यते, अनेन वा (प्लवनतरणयोः) तृ + थक्, जल स्थान, पवित्र स्थान, तीर्थयात्रा के उपयुक्त स्थान)– ऋग्वेद में 'तीर्थ' का प्रयोग पवित्र स्थान के लिए हुआ है। आश्वलायन गृह्यसूत्र (४/६) तैत्तिरीय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण (१/४४) आदि में तीर्थ का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। विक्रमाङ्कदेवचरितम्म् में विक्रमादित्य षष्ठ के राज्याभिषेक के समय विभिन्न तीर्थों के जल को अभिषेक के समय अत्यावश्यक सामग्री के रूप में प्रयोग में लाये जाने का वर्णन मिलता है। इससे हम यह कह सकते हैं कि शुभ कार्यों में तीर्थजल अनिवार्य रूप से प्रयोग में लाया जाता था, और तीर्थ स्थलों का अत्यधिक महत्त्व था।

यज्ञ–

(येति इज्यते अनेन वा अत्र वा, यज् (देवपूजादौ) + नङ् वैदिक तत्सम्, देव निमित्त किया गया धार्मिक कृत्य 'यज्ञ' कहलाता है।)– वैदिक वाङ्मय में 'यज्ञ' क्रतु, मख अथवा यज्ञ संबंधी कृत्य का द्योतक है। बिल्हण के समय में यज्ञों में सर्वाधिक प्रतिष्ठा अश्वमेध यज्ञ की थी। उनके अनुष्ठान द्वारा राजागण अपनी सार्वभौम सत्ता उद्घोषित करते थे। विक्रमाङ्कदेवचरितम्म् में अश्वमेध के अतिरिक्त अन्य यज्ञों के होने का भी उल्लेख मिलता है लेकिन इनमें इस यज्ञ की महत्ता, वैभवशालिता एवं संचालन–व्यवस्था का विस्तारपूर्वक परिचय मिलता है। पुत्र प्राप्ति हेतु अवश्वमेध यज्ञ तथा अन्य इष्टपूर्ति हेतु अश्वमेध यज्ञ किये जाने का वर्णन विल्हण ने किया है। राजा अहवमल्ल अपनी रानी से कहते है–

किमश्वमेधप्रभृतिक्रियाक्रमैः सुतोऽस्ति चेन्नोभयलोकबान्धवः।
ऋणं पितृणामपनेतुमक्षमाः कथं लभन्ते गृहमेधिनः शुभम्।।[1]

यदि इस लोक और परलोक दोनों में साथ देने वाला पुत्र न हुआ तो अश्वमेध आदि यज्ञों के करने से क्या लाभ है। पितृ ऋण से मुक्त होने में असमर्थ गृहस्थ लोगों का कैसे कल्याण हो सकता है।

यज्ञवाट या यज्ञशालाः–

विभिन्न यज्ञों को सम्पन्न करने के लिए अलग से भवन का निर्माण कराया जाता था, जिसे यज्ञ शाला कहा जाता था। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित् कल्याणी के चालुक्यवंशीय राजाओं द्वारा यज्ञशाला का निर्माण व यज्ञशाला का वर्णन इस महाकाव्य में अनेक स्थानों पर हुआ है। कभी–कभी यज्ञशालाएं राजमहलों में या उसके निकट ही कुछ दूरी पर बनाई जाती थी। जहाँ राजागण एवं उनकी रानियाँ जाकर अपना नित्य यज्ञ कर्म सम्पन्न करते थे।

यजमान–

यजमान उसे कहते है जो व्यक्ति अपने यज्ञ के लिए पुरोहित या पुराहितों को नियुक्त करता है। शतपथ ब्राह्मण में 'यजमान' वंशानुगत यज्ञ–कर्त्ता के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] विक्रमाङ्कदेवचरितम् में (यजमान) का प्रयोग दोनों ही अर्थों में हुआ है– यज्ञ करने वाले तथा जो अपने यज्ञ के लिए पुरोहितों को नियुक्त करता है।

---

१. विक्रम. द्वितीयः सर्गः ३४
२. संस्कृत अंग्रेजी डिक्शनरी– मोनियर विलियम।

'पाणिनि'[1] तथा पंतजलि[2] दोनों ने 'यजि क्रिया के मुख्य कर्त्ता' के लिए 'यजमान' का प्रयोग किया है।

अश्वमेध यज्ञ–

(वैदिक तत्सम्, यज्ञ जिसमें अश्व की बलि दी जाती है)– यह यज्ञ तीन दिनों का होता है। महाराज आहवमल्ल पुत्र की इच्छा से अश्वमेध यज्ञ करते है। इसमें– सर्वप्रथम भ्रमण के लिए अश्व छोड़ दिया जाता है, एक वर्ष भ्रमण करने के पश्चात् अश्व लौट आता है। तत्पश्चात् महाराज आहवमल्ल का यज्ञ प्रारम्भ होता है। यज्ञ विधि के अनुसार अश्व वध के लिए यूप में बाँध दिया जाता है। उस वध किए हुए घोड़े के पास सावधान चित्त होकर आहवमल्ल देव की रानी धर्म की इच्छा से एक रात निवास करती है। जितेन्द्रिय ऋत्विज उस घोड़े की चरबी निकालते है और अग्नि में उसे शास्त्रानुसार पकाते है। राजा आहवमल्लदेव हवन के धूम की गन्ध और हवन की गयी चर्बी की गन्ध समय पर विधानानुसार सूँघते है जिससे राजा के सब पाप दूर हो जाते है। घोड़े के अंगो को सोलह ऋत्विज ब्राह्मण यज्ञ में डालकर हवन समपन्न करते है। अन्य यज्ञों में तो पाकड़े (प्लक्षशाखासु) की लकड़ी पर आहुति दी जाती है किन्तु अश्वमेध में बेत की (बैतसो) लकड़ी पर रखकर आहुति दी जाती है। कल्पसूत्र और ब्राह्मण वचनों द्वारा अश्वमेध यज्ञ तीन दिनों का बतलाया गया है। पहले दिन अग्निष्टोम नामक यज्ञ किया जाता है। अश्व मेध यज्ञ समाप्त होने पर ब्राह्मण गण शास्त्रानुसार और भी अनेक यज्ञ जैसेः– ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, अभिजित्, विश्वजित कराते है।

---

१. अष्टा० ३/२, १२६
२. महाभाष्य ३/२/७१, पृ० २२६

इस यज्ञ में इक्कीस् (२१) यूप गाडे जाते थे। इस यूप में अनेकानेक पशु बाँधे जाते थे और उनकी बलि दी जाती थी। अन्त में अनेक विधियों के अनुसार उसमें ब्रह्मघोष होता था तथा अश्व की बलि करके उसके रक्त और मांस को पकाकर आहुति दी जाती थी।

ऐतरेय ब्राह्मण में अश्वमेध यज्ञ से साम्राज्य, भोज, स्वराज्य, परमेष्ठ्य आदि समस्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति बताया गया है।

यज्ञ के पश्चात् दान–

कल्याणी के चालुक्य वंश में 'दान' को एक पुण्यशाली धार्मिक कृत्य के रूप में मान्यता प्राप्त थी। दान का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक था और प्रायः यह अनिवार्य कर्म बन गया था। प्रत्येक सामाजिक, राजनीतिक शुभ कार्य के पश्चात् दान देने की प्रथा तो समाज में प्रचलित थी, किन्तु धार्मिक कृत्यों (यज्ञों) के अनन्तर दान करना धर्म का ही एक अंग बन गया था। यज्ञार्थ के पश्चात् जब तक राजा लोग ऋत्विजों को दानादि नहीं देते थें, तब तक उनका यज्ञ पूर्ण एवं सफल नहीं समझा जाता था। अत एव कुलोन्नति के इच्छुक महाराज आहवमल्लदेव तथा अन्य चालुक्यवंशीय राजा गण यज्ञ कर्म सम्पादित करने वाले ऋत्विज् को सब प्रकार से दान देते थे।

गो–दान–

दान की साम्रगी में अन्न, वस्त्र, धन तथा भूमि आदि के साथ धार्मिक दृष्टि से गोदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। यज्ञ की दक्षिणा में सहस्रों गायों को दान दे देना साधारण सी बात मानी जाती थी। यज्ञ के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर

भी गोदान शुभ कर्म माना जाता था। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में सोमेश्वर विक्रमाङ्कदेव तथा इनके पूर्वजों द्वारा अनेक स्थानों पर गो–दानों का वर्णन मिलता है।

बलि कर्म–

(बलनम्/बल (दाने) + इन, वैदिक तत्सम्)– ग्यारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत पर्यन्त न्यूनाधिक मात्रा में बलिकर्म में विश्वास प्रचलित था। अश्वमेध यज्ञ में तो 'अश्व बलि'[१] ही प्रधान कृत्य होता था तथा इसी प्रकार तात्कालिक अन्य यज्ञों में वैदिक युग के समान पर्याप्त मात्रा में पशु बलि दी जाती थी। पशु बलि के अतिरिक्त 'आत्मबलि' देने के भी प्रसंग प्राप्त होते है।

तप–

(तपति, तप + अच्, जलाने वाला, तपाने वाला, कष्टकर)– मानसिक विकारों को जलाने हेतु जो साधना की जाती है उसे तप कहते है। यह साधना शारीरिक, ऐन्द्रिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक हो सकती है। प्रत्येक साधना में इन्द्रियों को नियंत्रित किया जाता है, अत एव शरीर या इंद्रियों को जलाना तप का स्थूल या व्यक्ति लक्षण हो जाता है। उच्चता या महानता के दृष्टिकोण से यदि तप के भिन्न–भिन्न सोपानों पर विचार किया जाय तो हम कह सकते है कि जिस प्रकार शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा, क्रमशः उच्चतर और उच्चतम् होते जाते है उसी प्रकार शारीरिक तप से इन्द्रिय से मानसिक, मानसिक से बौद्धिक और आध्यात्मिक तप क्रमशः उच्चतर और उच्चतम् होते है।

---

१. विक्रम. द्वितीयः सर्गः ३४

वैदिक वाङ्मय[1] में 'तप' जलाने वाला, तपाने वाला आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदों में तप का यही अर्थ है।[2]

अभिलेखों में तप को 'परम–गति' कहा गया है। तप मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के साधक थे। तप द्वारा ज्ञान प्राप्तकर मनुष्य परम्धाम (ब्रह्मलोक) को प्राप्त कर सकता है, इसीलिए तप 'परम्' कों प्राप्त कराने वाली श्रेष्ठगति कही गई है। अत एव यदि जीवन तपोमय नहीं है तो वह निरर्थक है। तप दो प्रकार के थे तप–साधारण या छोटे–छोटे तपों को 'तप' कहते थे।

महातप–

बड़े–बड़े तप को 'महातप' कहते थे। ये कई वर्षों तक चलते थें। और कष्टमय साधना के अनुसार पूर्ण होते थे इस तप को पूर्ण करने में मनुष्य को अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। विक्रमाङ्कदेवचरितम् के द्वितीय सर्ग में राजा आहवमल्लदेव द्वारा पुत्र प्राप्ति हेतु कठोर तप करने का वर्णन किया गया है। पुत्र प्राप्ति हेतु न केवल आहवमल्लदेव द्वारा अपितु आहवमल्लदेव की रानी के द्वारा भी महातप में कष्टसाधना का वर्णन विल्हण ने किया है।

तपस्वीः–

(तपोऽस्यास्ति। तपस् (सहस्त्राभ्याम्) + विनि, वैदिक तत्सम तपस्वी, तपनिष्ठ)– वैदिक वाङमय में 'तपस्विन्' तपस्वी या दण्डनीय का द्योतक है।[3] तपस्वी

---

१. तैत्ति० उप० १/६

२. ऋग्० १७/१०४/१५, ३, अथर्व० ७/८/२, ऐत०, ब्रा० ७/१७, शत् ब्रा० १६

३. अथर्व० १३/२/५, तैत्ति० रा० ५/३/३/४

के पास कुछ भी धनादि नहीं होता वह सर्वथा अकिंचन होता है अत एव तपस्वी के इस अर्थ (दयनीय, निर्धन) का विकास हुआ। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में तपस्वियों के उस स्वरूप का चित्रण तो नहीं मिलता जैसा कि प्राचीन ग्रंथों में वर्णित है। किन्तु तपस्या करने के कारण आहवमल्लदेव प्रभृत राजाओं को तपस्वी कहा जा सकता है। इस महाकाव्य में ऐसे तपस्वियों का कई स्थानों पर वर्णन मिलता है।

पूजा विधि–

प्रस्तुत ग्रन्थ में– पूजा कैसे की जाती थी या आराधना तथा देवों का आवाहन कैसे किया जाता था, इसका स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है लेकिन अभिलेखों के अध्ययन से इस पर प्रकाश डाला जा सकता है। तत्कालीन समय में मंदिरों में गंधानुलेप के लिए तथा पंचामृतस्नान के लिए दान देने का वर्णन मिलता है। देवालयों में पंचामृत का प्रयोग पूजा पाठ के लिए किया जाता था। पंचामृत तो एक प्रकार से फलों का रस मिश्रित सलाद है जो यदि सम्यक्रूपेण तैयार किया जाए तो कई दिनों तक विनष्ट नहीं होता है। इस पंचामृत से देवताओं का स्नान कराकर इसको सभी भक्तों में प्रसाद के रूप में वितरित कर दिया जाता था। इसके वितरण के समय भक्तों की जाति का ध्यान नहीं रखा जाता था।[१]

दर्शन–

शैव मत–

शिव से सम्बद्ध धर्म को "शैव" कहा जाता है। इसमें शिव को इष्ट देव

---

१. दक्कन का प्राचीन भारत का इतिहास– जी. याजदानी

मानकर उनकी उपासना किए जाने का विधान है। शिव के उपासक अर्थात् शैव मतानुयायियों के अनुसार शिव अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त उपकारी हैं इसीलिए उन्हें शिव की संज्ञा से विभूषित किया गया।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित समाज और तत्कालीन समय में शैव मत ही प्रमुख था। राजपरिवार के लोग प्रायः श्री शैल के मन्दिर में जाते थे और राजा भी यहाँ दर्शन के लिए आते थे। वागवाड़ी के एक अभिलेख में जिस पर कोई तिथि अंकित नहीं है सोमेश्वर प्रथम की पत्नी मैलल देवी द्वारा 'लक्षहोम' के अवसर पर पाशुपत ज्ञान राशि को दान देने का उल्लेख है। वस्तुतः अभिलेखों में पाशुपत आगम और इसके सन्यासियों के अनेक दलों का प्रमुख रूप से उल्लेख हुआ है।

पाशुपतों को कालामुख भी कहते थे। 'बल्लि गावें' में उनका प्रमुख केन्द्र था। बतलाया गया है कि यह केन्द्र बौद्धों, मीमांसक, लोकायत, साङ्ख्य, अद्वैत और अन्य प्रतिद्वंद्वी आगमों के खंडन का अगुवा था।

१०३५ ई० के एक अभिलेख से यह पता चलता है कि इस स्थान के अध्यापक निरंतर शास्त्रार्थ में लगे रहते थे। इस अभिलेख के अंत में एक छन्द आया है जिसमें महादेव और वेदों की श्रेष्ठता के विरोधियों को चुनौती दी गई है।

शाक्त—मत—

शक्ति को इष्ट देवी मानकर पूजा करने वालों को शाक्त कहा जाता है इसमें दुर्गा को आदि शक्ति स्वीकार कर उन्हें सृष्टिकर्त्री, पालनकर्त्री तथा संहारकर्त्री के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।

'शाक्त' पाशुपतों के निकट थे। इस संप्रदाय का कोल्लापुर महालक्ष्मी और अन्य देवियों की पूजा से घनिष्ट संबंध था। १०४६ ई० के एक लेख में महालक्ष्मी की विशद प्रशस्ति है जिसमें उसके ७० 'तीर्थ' बतलाए गए हैं, इनमें श्री शैल को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। कहा है कि सिंह पर आरूढ़ इस देवी की ब्रह्म भी आराधना करते थे। प्रभु मारसिंह का एक पूर्वज प्रभुराज वर्मन इसी देवी का आराधक था। 'पाशुपताचार्य' इस देवी के पुजारी थे। लोक में अन्य देवियों की उपासना का क्या स्थान था इस संबंध में कुछ अभिलेखीय उदाहरण प्रस्तुत है– १०७६ ई० के एक लेख में 'निडुगंडि' गाँव की 'ग्रामाधिदैवम्' भगवती को एक शाश्वत दीप चढ़ाया गया था।

११४७ ई० में मल्लवल्लि में वहाँ के कतिपय गावुंडों ने भगवती और सप्तमातृकाओं की प्रतिष्ठा कराई थी।

१०६६ ई० के कुडितनि के एक अभिलेख में भी भगवती का उल्लेख है।

यद्यपि कई स्थलों पर कार्तिकेय या सुब्रह्मण्य के मंदिरों का उल्लेख अभिलेखों में आया है तथापि इस काल में बेल्लारी में कुडितनि का कार्तिकेय का मंदिर सबसे प्रसिद्ध था।

१०६६ ई० के एक लेख में इसी स्थान का नाम "स्वामिदेवरपट्टण" दिया गया है। 'स्वामिदेव' कार्तिदेय का ही दूसरा नाम है। चालुक्य वंश काफी प्राचीन समय से कार्तिकेय की कृपा का दावा करता था। एक प्रसिद्ध कार्तिकेय–तपोवन भी था जिसके 'नैष्ठिक आचार्य' होते थे। इस मंदिर में इस सम्प्रदाय के लोगों ने प्रभूत दान दिये थे। इन आचार्यों के सिलसिले में कोट्टिदोणे के पंचवर्गों का भी उल्लेख

अक्सर आया है किन्तु इस शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है।

कुडितनि के 'तपोवन' का ९७६ ई० के एक अभिलेख में भी उल्लेख आया है। इससे पहले राष्ट्रकूट अभिलेखों से पता चलता है कि वरेन्द्री (पू० बंगाल) से गदाधर नामक एक विद्वान आया था और वह कुडितनि से करीब २० मील दूर कोलेगल के कार्तिकेय तपोवन का प्रधान बना था।

यह प्रमाणित है कि गदाधर ने कुडितनि में कार्तिकेय की एक मूर्ति भी स्थापित की थी। इस प्रकार ये दोनों 'तपोवन' एक ही समय में थे और इनका मूल एक ही हो सकता है।

वैष्णवमत–

वैष्णव दर्शन का विकास भागवत धर्म से हुआ है। इसमें ईश्वर भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने पर बल दिया गया है। वैष्णवों का मानना है कि भक्ति के द्वारा ईश्वर प्रसन्न होता है तथा वह भक्त को अपने शरण में लेकर उसको उसके समस्त पापों से मुक्त कर देता है।

त्रैपुरुष और द्वादश नारायण के गडग के मंदिर (१०३७ ई०) का उल्लेख मिलता है। १०४६ ई में ब्राह्मण जक्किमप्य ने पोंबुल्च (धारवाड़ के गडग तालुक में होंबल) के विष्णु मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया था। इस मंदिर का निर्माण उसके पूर्वजों ने ही कराया था। जीर्णोद्धार के समय जक्किमप्य ने मंदिर के साथ एक 'सत्र' की भी स्थापना की। १०६० ई० में सेनापति रविदेव की पत्नी रब्बलदेवी ने हूविन हडगल्लि में केशव का मंदिर बनवाया था। यह इस सम्प्रदाय के इतिहास में

एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

बेल्लारी में मैलर से एक बडे महत्त्व का अभिलेख मिला है। इसमें वहाँ के २०० वैष्णव 'महाजनों' को एक 'शिवालय' का प्रबन्ध सौंपा गया है। (१०४० ई०)

नागवावि का मधुसूदन का मंदिर एक बहुत बड़ा वैष्णव केन्द्र था। एक अभिलेख से विदित होता है कि मंदिर के दो देहारियों (पुजारियों) के लिए ४८ 'मत्तर' भूमि अलग दान में मिली थी। शर्त केवल यह थी कि पुजारी ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे, सिर्फ रात में भोजन (नक्त भोजन) और भूमि–शयन (अधः शयन) करेंगे।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वैष्णव सम्प्रदाय या वैष्णव विचारधारा का प्रत्यक्ष उल्लेख तो नहीं मिलता किन्तु उपमाओं के माध्यम से तथा अन्य वर्णनों के माध्यम से विष्णु का एवं उनके दशावतारों[1] के अंतर्गत वराह इत्यादि रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि वैष्णव धर्म के अनुयायी समाज में कम थे। शैव मत में ही लोगों का विश्वास अधिक था। ऐसी स्थिति में भी भगवान् विष्णु के मंदिर, विष्णु के विभिन्न अवतार तथा तत्संबंधित अनेक शब्दों का विक्रमाङ्कदेवचरितम् में कई बार प्रयोग देखने को मिलता है। भगवान् विष्णु के मन्दिरों का बिल्हणकृत वर्णन अत्यन्त आकर्षक है–

नभोङ्गणव्यापिनमुष्णदिधितेर्गुणद्वयं यं परिहृत्य गच्छतः।
न लङ्घनं शार्ङ्गभृतःकृते भवेत् तुरङ्गमाला च न भङ्गमश्नुते।।[2]

---

१. विक्रम. २/३४
२. विक्रम. १७/१६

उस समय न केवल विष्णु की पूजा होती थी अपितु उनके विभिन्न अवतारों के प्रति भी जनमानस में श्रद्धा थी क्योंकि बिल्हण ने विष्णु के विभिन्न अवतारों का सुन्दर वर्णन किया है।

अयं स कण्ठीरवतामुपागमद्, विपाटनर्थं दनुजेन्द्रवक्षसः।
इतीव भीतः कमलापतेः स्थितिं, न यत्र धत्ते कलिकालकुञ्जरः।।[1]

कलियुग रूपी हाथी, दैत्यों के राजा हिरण्यकशिपु के कलेजे को फाड़ डालने के लिए यह प्रसिद्ध विष्णु सिंह बनकर अर्थात् नृसिंह अवतार लेकर इस पृथवी पर आया था, ऐसा विचार कर मानो लक्ष्मीपति विष्णु या लक्ष्मी के स्वामी विक्रमाङ्कदेव से डरकर उसके राज्य में वास नहीं करता है।

भगवान् विष्णु को आराध्य देव के रूप में पूजना तथा उनका नख–शिख वर्णन सम्भवतः यही दर्शाता है कि जनता में वे लोकप्रिय देवों की कोटि में आते थे।

"अवैमिनारायणनाभिपङ्कज न लभ्यते यत्र मधुव्रतोत्करैः।
दिवानिशं येन विनिस्सरन्ति ते, निभेन कालागुरूधूमसम्प्रदाम।।"[2]

विष्णुमंदिर में भ्रमरों के समूह विष्णु भगवान् के नाभि के कमल को नहीं प्राप्त करते है, इस कारण से वे भ्रमर कस्तूरी और अगर के धुएं के समूह के मिष से रात दिन मंदिर में से निकलते रहते हैं ऐसा मैं समझता हूँ अर्थात् विष्णु मन्दिर में चौबीसों घण्टे धूप जला करता था।

सामान्य जन में वैष्णव धर्म का तो प्रचार था ही, साथ ही साथ राजाओं का

---

१. विक्रम. १७/१७
२. विक्रम. १७/१८

संरक्षण भी इसे प्राप्त था। राजा अनन्त के विषय में परम वैष्णव होने का उल्लेख बिल्हण ने किया है इसका अर्थ है कि राजाओं का प्रश्रय भी प्राप्त था।

श्रोणीबन्धे कुवलयदृशां द्रागवज्ञारसज्ञः,
पार्श्वद्वन्द्वेऽप्यतनुत सभामण्डनं पण्डितालीम्।
रत्नच्छायाच्छुरणसुभगस्वर्णपत्रावमानी
मानी मेने श्रवसि च कथां वैष्णवी भूषणं यः।।[१]

कमलनयनी कामिनियों के नितम्बस्थल मे शीघ्रता से उपेक्षा बुद्धि रखने वाला क्षितिपति अपने दोनों ही ओर पण्डितों के बैठने का स्थान देकर दरबार की शोभा बढ़ाता था। रत्नों की चमक से सुन्दर सोने के कर्णाभूषणों का आदर न करने वाला, वह विष्णु सम्बन्धिनी कथा को ही कालों का आभूषण समझता था अर्थात् वह (राजा अनन्त) परम वैष्णव था।

जैनमत और बौद्धमतः–

जैन दर्शन का विकास छठी शताब्दी ईसा पूर्व के आस–पास हुआ। यद्यपि इस मत के प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर थे तथापि इसको पुष्पित एवं पल्लवित करने का श्रेय अंतिम तीर्थकर महावीर को जाता है। यह ईश्वर में विश्वास नहीं करता है अत एव इसे नास्तिक दर्शन कहा जाता है। आत्मा में आस्था रखने के कारण यह आत्मवादी है। इसके अतिरिक्त यह जड़ की सत्ता को सत्य मानता है। जैन दर्शन का योगदान प्रमाण शास्त्र एवं तर्क शास्त्र में अद्वितीय है।

---

१. विक्रम. १८/५०

बौद्ध दर्शनः–

इस दर्शन के प्रणेता महात्मा बुद्ध माने जाते है। इस दर्शन का मूल उसके चार आर्य सत्य हैं। जिसमें दुःख और उसके कारणों तथा उनको दूर करने के उपायों का विवेचन किया गया है। एक ओर जहाँ यह क्षणिकवाद का सर्मथन करता है वहीं दूसरी ओर आत्मवाद का विरोध कर अनात्मवाद की प्रतिष्ठा करता है। प्रतीत्यसमुत्पाद (कार्यकारण सिद्धांत) इसका मूल आधार है। ईश्वर विरोधी होने के कारण अनीश्वरवाद की उपाधि से गेय है।

कतिपय महत्त्व की जैन और बौद्ध संस्थाओं का उल्लेख कर हम धार्मिक अवस्था की रूपरेखा समाप्त करेंगे। जैन अभिलेखों में कुछ तो बहुत बड़े है। इनमें विभिन्न 'अन्वयों' और 'गच्छों' के आचार्यों के बारे में मनोरञ्जक विवरण आए हैं। जैनमत के इतिहास में धल्ल की पुत्रवधू और नागदेव की पत्नी अत्तिमब्बे का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह 'दान–चिंतामणि' के रूप में प्रसिद्ध थी। अपने पुण्य से वह चमत्कार दिखा सकती थी। उसने अनेक बसदियों का निर्माण कराया था। 'लोक्किगुंडि' में उसने एक बहुत बड़ी बसदि का निर्माण कराया था जिसके लिए सम्राट ने सोने का 'कलश' प्रदान किया था। इन सभी कार्यों का लेखों में बड़े विस्तार से वर्णन आया है। अभिलेखों में जैन सम्प्रदाय के श्रेष्ठ जनों का 'सागारसुमार्ग–निरतार' अर्थात् सुमार्ग पर चलने वाले गृहस्थों के रूप में उल्लेख आया है। चोल सेना ने कुछ समय तक चालुक्य राज्य में अतीव उपद्रव मचाया था। उनका क्रोध विशेषकर जैन–मंदिरों पर प्रकट हुआ था। १०७१ ई० में गवरवाड अभिलेख से प्रकट है कि युद्ध में उनकी अपार क्षति हुई थी और उनकी मरम्मत आवश्यक हो गई थी।

बेलगावे और डंबल सम्भवतः बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र थे। बेलगाव में दण्डनायक रूपभट्टय और अन्य पदाधिकारियों ने १०८५ ई० में जयंति बुद्ध विहार का निर्माण कराया था और तारा भगवती केशव लोकेश्वर, बुद्ध और अन्य देवताओं की पूजा के लिए दान दिए थे।

इससे यही सिद्ध होता है कि महायान सम्प्रदाय के रूप से दकन सुपरिचित था

ध्यान देने की बात यह है कि इन प्रतिष्ठानों और दानों पर सम्राट की स्वीकृति थी (परमेश्वर दत्ति)। इसी लेख में एक, पञ्चमठ का भी उल्लेख है।

इसके दो साल बाद १०६७ ई० में इन्हीं संस्थाओं को नाड–पेर्ग्गडे सहवासि हंपचट्ट की पत्नी ने दान दिया था।

१०६५–६६ ई० के एक लेख से पता चलता है कि डंबल में एक बौद्ध विहार था जिसका सोलह सेट्टियों ने निर्माण कराया था, वे उसकी प्रबन्ध समिति के सदस्य थे। 'सेट्टि' सङ्गवय्य ने आर्य तारादेवी का एक विशाल विहार बनवाया था। यह सेट्टि संगवय्य लोक्किगुंडि का 'बड्ड–व्यवहारी' था।

बौद्ध धर्म की शिक्षाएं तथा उसके उपदेश लोगों में समादर प्राप्त थे। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में बिल्हण ने बौद्ध धर्म की शिक्षाओं के अनुपालन में प्रवृत्त रानी तथा अन्यों को भी अनुकरण की प्रेरणा दी है। बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धांत अनात्मवाद की भी यहाँ पर व्याख्या दी गई है।

नूनं स्मरः सौगतदर्शनोत्थं रहस्यमस्याः कथयाम्बभूव।
त्वया विना व्यर्थमनोरथा यदात्मन्यवज्ञां प्रकटीकरोति।।[१]

कामदेव ने निश्चयपूर्वक चन्दलदेवी को बौद्ध दर्शन के रहस्य का अर्थात् संसारादि सब अनित्य तथा आत्मा नहीं है, ऐसा उपदेश दिया होगा क्योंकि तुम्हारे न मिलने से भग्न अभिलाषावाली वह चन्दलदेवी अपनी आत्मा की अवहेलना करती है। बौद्ध दर्शन में आत्मा को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है।

---

१. विक्रम. नवमः सर्गः ३१

सप्तम अध्याय

२. शिक्षा– पाठशाला

३. कला

४. स्थापत्यकला

५. वास्तुकला एवं प्रतिमाएँ

६. जड़ाई की कला

शिक्षा एवं कला

शिक्षा–

प्राचीन भारत शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। समय–समय पर अनेक विद्वान् बाहर से इस देश में आकर उच्च ज्ञान द्वारा अपने को लाभान्वित करते रहे हैं। वैदिक युग में इस देश में शिक्षा का व्यापक प्रचार हो गया था। उपनयन संस्कार हो जाने के पश्चात् बालक गुरू के आश्रम में जाकर निवास करता था और वहीं 'शिष्य–वृत्ति' करता हुआ गुरू से शिक्षा प्राप्त करता था।

ग्यारहवीं शताब्दी में विद्याध्ययन पर ब्राह्मणों का ही एकाधिकार न होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी थे और प्रत्येक को प्रारम्भिक बौद्धिक एवं धार्मिक शिक्षा सामान्य रूप में मिलती थी। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि तात्कालिक समाज पर्याप्त रूप से शिक्षित था।

पाठशाला–

समाज में आम शिक्षा, प्राथमिक और उच्चतर के लिए पाठशालाएं थी। प्रायः हर गॉव में अक्षरारंभ का प्रबंध था। हम यह मान सकते है कि यदि सभी गांवों में नहीं तो कम से कम अधिकांश गांवों में अवश्य ही 'अक्खरिग–वृत्ति' अर्थात् स्कूल मास्टर के लिए माफी जमीन रखने की प्रथा प्रचलित थी। अभिलेखों में आमतौर पर मंदिरों में जन साधारण के लाभार्थ 'पुराणों' के पाठ का अक्सर उल्लेख आया है। पुराण से वास्तंव में 'रामायण', 'महाभारत' और 'पुराणों' सबका सम्मिलित बोध होता था। इस प्रकार के दृष्टांत अभिलेखों में मिलते हैं, तथा इससे सम्बद्ध कुछ और

दृष्टांत भी दिए जा सकते हैं।

१०८५ ई० के नागै के एक अभिलेख में ४० 'मत्तर' भूमि 'पुराण–भट्ट' के लिए दी गई थी, जिसका काम देवता के सामने मंदिर में और 'मठ' में पुराणों का पाठ करना था। ११०३ ई० में बागकी के कल्लेश्वर मंदिर में 'पुराण' के लिए एक 'पण' प्रतिमास की छोटी रकम रखी गई थी। चार साल बाद इसमें वृद्धि हुई। फिर 'पुराण' के पाठक ईश्वर भट्टोपाध्याय को ६० 'कम्भ' बगीचे की जमीन दान में मिली।

११२६ ई० में उन्हें एक मकान भी दान में मिला बागली में ६ 'होन्तुस' का एक दान 'पुराण' के ही पाठक को मिला था जिसकी तिथि नहीं दी गई है। इसमें चेन्नकेश्वर मंदिर में 'ऐंद्र' सूक्त का पाठ करने वाले को ४ 'होन्नस' की भी व्यवस्था थी। १११२ ई० में सिंदिगे 'महाग्रहार' में पुराण के पाठक को 'भट्टवृत्ति' के रूप में भूमि और मकानों को बनवाने के लिए जगह दी गई थी।

११२६ ई० में जब तर्दवाडि पर हैम्माडि कलचुर्य का शासन था तो इंग्लेश्वर में पुराण खंडिक को एक दान दिया गया था। उच्च शिक्षा का माध्यम प्रायः संस्कृत था और विषय थे वेद दर्शन, व्याकरण। इनके लिए अलग से विद्यालय थे। प्रायः समूचे देश में ऐसे अभिलेख मिले जिनसे इस बात का अच्छा ज्ञान हो जाता है कि इन विद्यालयों का पोषण किस प्रकार होता था और इन्हें अपने उद्देश्य में कितनी सफलता मिली थी।

इनमें से कुछ चुने हुए अभिलेखों का उल्लेख हम कर सकते है। 'विद्यादान' के बारे में जो गोलमोल कथन है, जिनका कोई ब्यौरा नहीं दिया गया है उनका

हवाला देना बेकार है। इनमें से कुछ दृष्टातों का, जैसे उम्मचिगे में शिक्षा की व्यवस्था का उल्लेख हमे अभिलेखों से प्राप्त होता है।

१०५८ ई० में मधुसूदन के मंदिर में मधुव ने जिस 'घटिका' (कालेज) (इसे शाले भी कहते थे) की स्थापना की थी उसमें 'वेद' के २०० विद्यार्थियों, शास्त्रों के ५० विद्यार्थियों, 'शास्त्रों' के तीन अध्यापकों (मीमांसा के), एक 'भाट्टसम्प्रदाय' के लिए, दूसरा 'न्याय' सम्प्रदाय के लिए और तीसरा 'प्रभाकर' सम्प्रदाय के लिए, 'वेदों के' तीन अध्यापक एक ग्रंथालयाध्यक्ष कुछ २५७ व्यक्तियों की व्यवस्था की। अक्षय दान की आमदनी से इन सबके भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध किया गया था। अध्यापकों में ३५ 'मत्तर' भूमि 'भट्ट दर्शन' के अध्यापक के लिए ३० 'मत्तर' न्याय दर्शन के अध्यापक के लिए और ४५ 'मत्तर' प्रभाकर दर्शन के अध्यापक के लिए ग्रन्थालयाध्यक्ष और टाइमकीपर में हर एक के लिए ३०–३० 'मत्तर' भूमि वेतन के रूप में अलग रखी गयी थी। 'वेद' के अध्यापक के वेतन के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया था। यह सम्भवतः ४०० ब्राह्मणों में उसे 'ब्रह्मलोक' ही समझिए के लगान से मिलता रहा होगा। मधुसूदन ने इस दान के साथ वह गाँव भी बसाया और अक्षयदान दिये थे।

११०७ ई० में बेल्लारी जिले के 'चिन्न तुंबलम' गाँव में रानी मलयवती ने उसे जो गाँव की शासिका (आलके) थी उसके राजस्व (सिद्यायद पोन्) में से नीचे लिखे दान दिए।

देश भर में 'ब्रह्मपुरियाँ' स्थापित थीं। उन्होंने संस्कृत ज्ञान के विधिवत् प्रचार के लिए सेवा की। इन ब्राह्मणों के ज्ञान, चरित्र और आयुधों के लाघव के बारे में

सामान्य प्रशंसा के पर्याप्त प्रमाण अभिलेखों में मिलते हैं।

१०२४ ई० के मरोल के अभिलेख में जैन अध्यापक अनंतवीर्य मुनि की प्रशंसा में कहा गया है कि वह व्याकरण, निघण्टु गणित, वात्स्यायन, ज्योतिष, 'शकुन', छंदस 'मनु धनाधर्व' अलङ्गार, महाकाव्य, नाटक, आध्यात्मिक, अर्थशास्त्र, सिद्धांत और प्रमाणों का पण्डित था। यह सूची काफी बड़ी है। इससे पता चलता है कि कोई अध्यवसायी उस काल में किन–किन विषयों और पुस्तकों का ज्ञान प्राप्त कर सकता था।

११४१ ई० के बेल्लारी जिले के सिदिगेरे के एक अभिलेख में कालामुख के आचार्य की प्रशंसा में कहा गया है कि वह व्याकरण, तर्क, सिद्धांत, काव्य, नाटक, नाटिका, वेदाभिधन, अलङ्कार, प्रतिश्रूति, पुराण, इतिहास, मीमांसा, 'नीतिशास्त्र' और अन्य शास्त्रों का पंडित था। वह शास्त्रार्थ के लिए सदा प्रस्तुत रहता था। उसने कालामुख सम्प्रदाय को पुनः प्रतिष्ठित किया था। संस्कृत में उसकी वाणी धारा प्रवाह निकलती थी।

शिक्षा और शिक्षण संस्थाओं और ज्ञान के प्रसार के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से एक बात जाहिए होती है कि यद्यपि उच्च शिक्षा तो आज की भांति तब भी कुछ खास–साख केन्द्रों में सीमित थी, क्योंकि इसके लिए सर्वत्र साधन उपलबध न थे, तथापि इस प्रकार के ज्ञान का जो रस था वह सर्वत्र फैला था। ऊँचे से ऊँचा विद्वान्, और अति प्रबुद्ध और परिष्कृत बुद्धिजीवी गॉवों में जाकर रहता था और वहाँ वह अपने–अपने आस–पास के लोगों के जीवन का मार्गदर्शन करता था। शिक्षा सभी रूपों में सामाजिक जीवन और संस्थाओं से जुड़ी हुई थी। आज की अपेक्षा वह

समाज के लिए स्थाई और स्पष्ट ही लाभप्रद थी।

अभिलेखों अथवा साहित्य में राजकुमारों की शिक्षा–दीक्षा के बारे में कोई सूचना नहीं है। 'याज्ञबल्क्य स्मृति' मे प्राचीन प्रथा की पुनरावृत्ति भर कर दी गई है कि राजा को 'अन्वीक्षकी', त्रयी, दण्डनीति और वार्ता का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। याज्ञवल्क्य के इस वचन कर टीका करते हुए अपरार्क या विज्ञानेश्वर ने किसी समसामयिक तथ्य का उल्लेख नहीं किया है। सोमेश्वर के 'मानसोल्लास' में भी इस संबंध में कोई अतिरिक्त बात नहीं कही गयी है।

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' में सोमेश्वर एक बार प्रासङ्गिक रूप में अपनी पट्टमहिषी से अवश्य कहता है कि वह वेदों, आगमों और इतिहास का विद्वान् है और उसके मन में अपने गुरुओं के प्रतिपूर्ण आदर है।

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' के तृतीय सर्ग में विक्रमादित्य की शिक्षा–दीक्षा का वर्णन करते हुए बिल्हण ने लिखा है कि, शिशुकाल में विक्रमादित्य लोहे के पिंजड़े में बन्द सिंह शावकों से खेलता था। बाद में उसने सभी लिपियों का (सर्वासुलिपिषु) का ज्ञान प्राप्त किया और वह एक कवि और उत्तम वक्ता बना था। हमें राजकुमारियों, उच्च पदाधिकारियों और आम जनता के अधिगमों के बारे में अच्छी जानकारी मिलती है। हम यह मान सकते हैं कि एक ऐसे सुसंगठित समाज में और एक ऐसी राज्य–व्यवस्था में जिसमें सब कुछ राजा पर ही निर्भर था, राजकुमारों की शिक्षा–दीक्षा पर पूरा ध्यान दिया जाता रहा होगा।

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' में शिक्षा के बारे में प्रत्यक्षरूपेण वर्णित शैक्षिक स्थिति का, शिक्षा के स्तर का, समाज में शिक्षा के प्रसार हेतु राजकीय तथा सामाजिक

सहयोग था या नहीं, और यदि था तो कितना; आदि का अत्यल्प वर्णन मिलता है। बिल्हण द्वारा दी गई उपमाओं तथा शैक्षिक सूचनाओं के आधार पर उसकी स्थिति जानने का प्रयास करेंगे। प्रवरपुर का विद्यामठ निश्चित रूप से शिक्षा का उन्नत केन्द्र रहा होगा क्योंकि बिल्हण ने वहाँ से विद्या के प्रचार होने की बात कही है।

यद्भूषायां विहितवपुषस्तस्य विश्ववैक बन्धोः
स्फूर्तिः कीर्तेः पद्मनुपमा सापि विद्यामठस्य।
यस्मिन्नङ्गीकृतकलकला मेखलाः कामिनीनां।
पृष्ठे लग्नं कुसुम धनुषस्त्र्यक्षमप्याक्षिपन्ति।[१]

जिस प्रवरपुर का अलङ्कार स्वरूप, शरीरधारी, जगत् का विद्या प्रचार से कल्याण करने वाला विद्यामठ अर्थात् पाठशाला प्रसिद्ध व अनुपम गौरव से कीर्ति का स्थान है। जिस विद्यामठ में 'कलकल शब्द' करने वाली कामिनियों की करधनियाँ कामदेव के पीछे पड़े हुए शङ्कर भगवान् को डराती थीं, अर्थात् शंकर द्वारा कामदेव के भस्म कर दिए जाने पर भी वे कामदेव को वहाँ जीवित कर लेती थीं।

शिष्यवृत्ति–

आश्रम में रहकर गुरू का प्रत्येक कार्य करते हुए विद्याध्ययन एवं विद्याभ्यास करना एवं आश्रम की व्यवस्था एवं अनुशासन में रहना 'शिष्यवृत्ति' कहलाती थी। प्रत्येक शिष्य 'शिष्यवृत्ति' का पालन करता था चाहे वह उच्च कुल का हो चाहे मध्यम। इस प्रकार विद्यार्थी जीवन बड़ा ही कठोर एवं कष्टप्रद होता था।

---

१. विक्रम. १८/२१

शिष्यवृत्ति ग्रहण करने पर इन्द्रियनिग्रह विद्यार्थियों का दूसरा प्रधान गुण था। इस समय तपस्वी के समान ही त्याग, उदारता, सहिष्णुता, क्षमा इत्यादि मानवीय गुणों द्वारा अपने चरित्र को उदार बनाना पडता था। समस्त सांसारिक सुखों से वह परे होता था।

गुरु की सेवा–शुश्रूषा एवं उनके व्यक्तिगत कार्यों को करना 'गुरूकार्य' कहलाता था। आश्रम में निवास करता हुआ विद्यार्थी आश्रम की पूर्ण रूप से सफाई करता था, झाड़ू इत्यादि लगाता था। तात्कालिक नृपतिगण गुरुओं का विशेष आदर एवं सम्मान करते थे, राजा आह्वमल्लदेव ने अपने पुत्रों की शिक्षा के लिए गुरूओं से राजकीय सम्मानपूर्वक व्यवहार करता था, तथा उन्हें सर्वोच्च सम्मान से सम्मानित करवाता था। बिल्हण के वर्णन में तो शिक्षा तथा गुरूओं के बारे में केवल रोशनी ही पड़ती है लेकिन अभिलेखीय तथा ऐतिहासिक स्रोतों से हम सम्पूर्ण शैक्षिक स्थिति की जानकारी प्राप्त कर सकते है।

गुरु–

(गुणति धर्मादि, गिरत्यज्ञानी वा, गृ 'शब्दे', गृ (निगरणे) वा + उ, वैदिक, तत्सम, अध्यापक)– वैदिक वाङ्मय में 'गुरु' शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है,[१] जो विद्यार्थी को विद्याध्ययन कराता है। वेद में गुरू की सेवा– शुश्रूषा, उनका नित्य कार्य करने के लिए विप्र को बल दिया गया है।

आचार्य–

(आचर्यते, चर (गतौ) + ण्यत्, वैदिक तत्सम, उच्चकोटि का शिक्षक)–

---

१. ऋग्. १/३६/३, ४, ५, ६

विद्यार्थी को आचार सिखाने के कारण इसे आचार्य कहते हैं। वैदिक वाङ्मय में 'आचार्य' उस शिक्षक के लिए प्रयुक्त हुआ है जो उपनयन संस्कार कराकर विद्यार्थी को वेद शिक्षा देता है।[1] आचार्य शब्द की व्याख्या करते हुए 'यास्क' कहते हैं– शिक्षक को आचार्य इसलिए कहते हैं चूँकि वह आचार का ग्रहण कराता है, विद्यार्थी को आचार सिखाता है, पदार्थों का संचय करता है, विद्यार्थी को सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों का दर्शन करा देता है, शिष्य की बुद्धि का संचय करता है। उसकी बुद्धि बढ़ाता है, अतः उसे आचार्य कहते हैं।[2]

कुलपति–

आश्रम अर्थात् विद्या केन्द्र का जो स्वामी या प्रधान (पति) होता था, वह कुलपति कहलाता था। कुलपति के आश्रित दूर–दूर से अनेको शिष्य विद्याध्ययन करते थे। दक्षिण भारतीय अभिलेखों में पाठशालाओं उनके शिक्षक तथा अन्य शिक्षण संस्थानों के प्रमुख का वर्णन मिलता है।

भाषा और साहित्य–

प्रत्येक युग का साहित्य उस युग का दर्पण और दीप होता है। कवि अथवा साहित्यकार अपने युग के परिवेश से किसी न किसी रूप में प्रभावित होता है। अतः उसके साहित्य में उस युग की सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक स्थितियों के साथ–साथ उस युग की साहित्यिक, भौतिक तथा कलात्मक परिस्थितियों की भी

---

१. संस्कृत अंग्रेजी डिक्शनरी, मोनियर विलियम्

२. निरुक्त–संस्कृत–हिन्दी टीका, विद्यावागीश, देवशर्मा शास्त्री

अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से सास्कृतिक, साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' अपने युग का उल्लेखनीय ग्रन्थ है।

यद्यपि बिल्हण के समय में सम्पूर्ण भारत में सर्वमान्य भाषा के अतिरिक्त कुछ क्षेत्रीय भाषांयें भी मात्र भाषा के रूप में प्रयोग में लाई जाती थी। तथापि संस्कृत और प्राकृत मात्र भाषावत् व्यवहृत थी। बिल्हण ने अठारहवें सर्ग में इसका वर्णन किया है—

> "ब्रूमः सारस्वतकुलभुवः किं निधेः कौतुकानां,
> तस्यनेकाद्भुतगुणकथाकीर्णकर्णामृतस्य।
> यत्र स्त्रीणामपि किमपरं जन्मभाषावदेव,
> प्रत्यावासं विलसति वचः संस्कृतं प्राकृतं च।।[१]

"सरस्वती के आदिधाम, आश्चर्यो की निधि और अनेक अद्भुत गुणों के कथानकों के द्वारा जिसने कानों को अभूत से भर दिया है ऐसे उस प्रवरपुर के संबंध में क्या (विशेष) कहा जाए। जहाँ, और तो क्या, स्त्रियों की भी बोली मातृभाषा के समान ही संस्कृत और प्राकृत में प्रत्यके घर में सुनाई पड़ती है।"

इस प्रकार तात्कालिक समाज में शिष्ट लोगों में भाषा शुद्ध एवं परिष्कृत रूप में व्यवहरित होती थी, समाज का शिक्षित वर्ग एवं शिष्ट वर्ग परिस्कृत भाषा का ही प्रयोग करता था। जिन्हें पतंजलि ने शिष्टों की संज्ञा दी है। बिल्हण के उपर्युक्त कथन के आधार पर हम कह सकते है कि संस्कृत प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं का प्रयोग समाज के कतिपय विद्वत् समाज के द्वारा ही न होकर जनसामान्य में भी होता था।

---

१. विक्रम. अष्टादशः सर्गः ६

कल्याणी के चालुक्य साहित्य के उत्तम संरक्षक थे। जहाँ पर बिल्हण ने कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ का संरक्षण प्राप्त कर 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' तथा अन्य तीन ग्रंथों की रचना की वहीं पर धर्मशास्त्र की पुस्तक 'मिताक्षरा' के लेखक विज्ञानेश्वर को भी इनका संरक्षण प्राप्त था। राजकीय संरक्षण प्राप्त होने के कारण साहित्य सर्जना समृद्ध रूप को प्राप्त हुई।

शिक्षा के उद्देश्य–

ग्यारहवीं शताब्दी की शैक्षिक व्यवस्था तथा शैक्षिक पृष्ठभूमि पर यदि एक समग्र दृष्टि डाली जाय तो शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। उस समय शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य सच्चे अर्थों में व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से सभ्य, सुसंस्कृत, सुशिक्षित बनना था। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से विद्यार्थी को व्यायाम, मृगया, युद्ध शिक्षण द्वारा सुगठित, शक्तिशाली एवं हृष्ट–पुष्ट, आरोग्य देह से सम्पन्न करना भी तात्कालिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था।

तात्कालिक शिक्षा का उद्देश्य विद्या द्वारा 'विनीत' बनाना था। 'विनय' का अर्थ आत्मसंयम था। यह निश्चय ही मनुष्य के चरित्र का सर्वश्रेष्ठ धन है। इसके अभाव में शिक्षित मनुष्य भी मूर्ख है। शिक्षा का प्रभाव सम्पूर्ण रूप में कल्याणी के चालुक्यों विक्रमादित्य षष्ठ में देखा जा सकता है। उपर्युक्त शैक्षिक प्रभाव स्वरूप ही विक्रमाङ्कदेव में उच्च कोटि की नैतिकता, विनम्रता तथा संवेदनशीलता आदि गुण थे।

कला

कला– कला के अंतर्गत सभी ललित कलायें समाहित थीं जैसे– संगीत, कला, चित्रकला, वास्तुकला आदि। कला की ये सभी विधायें मनोरंजन की उत्कृष्ट साधन थी।

११वीं शताब्दी में उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत में कला के विकास एवं उसकी वस्तु–स्थिति का संक्षिप्त वर्णन प्रासगिकता के आधार पर प्रस्तुत है। संगीत एवं उससे सम्बद्ध कुछ कलाओं का उल्लेख 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' में मिलता है। १०४५ ई० के आस–पास मुगद के एक जैन मंदिर के परिषद् में एक निर्माण हुआ था। १४०६ ई० के शिरूर (बीजापुर) के एक अभिलेख में एक मंदिर को मिले बहुत बड़े दान का उल्लेख है। इसमें 'गीत नृत्योपहार' के रूप में देवता के सामने प्रतिदिन गीत एवं नृत्य के आयोजन की व्यवस्था की गई थी।

बीजापुर जिले के एक अभिलेख में, जिसमें कोई तिथि नहीं है एक मंदिर से सम्बद्ध एक बासुरी वादक, दो गायकों, दो नर्तकियों, चार अन्य गणिकाओं और एक मालाकार के लिए दान में बहुत बड़ा हिस्सा रखा गया है।

नागै के अभिलेखों में एक में (१०८६ ई०) में ८० 'मत्तर' भूमि दो गायिकाओं और चार ढोल वादकों के लिए दी गई थी जिन्हें प्रतिदिन तीन बार सेवा करने को कहा गया था। ६० 'मत्तर' भूमि चरणों के दो समूहों के लिए ४० 'मत्तर' २ नर्तकियों को, ३६ 'मत्तर' ४ नाचने वालियों को इन्हें 'क' भदसूलेयर कहा गया है, संभवतः ये देवता के सम्मुख जुलूस बनाकर सोने की दंड हाथों में लेकर चलती थी दिया गया है।

१०८६ ई० में बेलारी जिले में चिन्नतुंबलम् के एक मंदिर में मिले दान में गायक–गायिकाओं, नर्तकियों और ढोलक वादकों का भी हिस्सा रखा गया है।

इस महाकाव्य में भी ऐसी नर्तकियों का उल्लेख मिलता है जो राजा को प्रसन्न करने के लिए राजदरबार में नृत्य करती थी। ये नर्तकियाँ वेश्याएं होती थी इससे नृत्यकला का व्यापक प्रचार समाज में था और यह तत्कालीन लोगों के मनोरंजन का मुख्य साधन थी।

संगीत कला–

श्लोकों को तथा वैदिक ऋचाओं का सस्वर पाठ करने की प्रणाली वैदिक युग से चली आ रही थी। स्वरों का तो इतना अधिक महत्त्व था कि स्वर उच्चारण में भेद होने पर श्लोक का अर्थ ही बदल जाता था। भारत की अर्येतर जातियों में संगीत नृत्यादि के प्रति अतिशय अभिरूचि थी। ऐसी जातियों में किन्नर–गंधर्व विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन जातियों का जीवन ही कलात्मक अथवा कला के लिए था। किन्नर–गंधर्व–अप्सरा ये सभी जातियाँ गान–नृत्य एवं वाद्य में विशेष दक्ष होती थी।

समाज में संगीत की शिक्षा भली प्रकार दी जाती थी, इस विद्या को 'गान्धर्व शिक्षा' कहा जाता था। वैश्याओं के अतिरिक्त राजपरिवारों के सदस्यों द्वारा नृत्यादि में भाग लेने का वर्णन विल्हण ने किया।[१]

---

१. विक्रम. १०/२६

गांधर्व कला–

(गन्धर्वस्येदम् + अण्, गन्धर्वों से संबंध रखने वाला–) वैदिक वाङ्मय में 'गान्धर्व' शब्द का प्रयोग गन्धर्वों से संबंधित अर्थ में विशेष रूप से गान्धर्व विवाह के लिए प्रयुक्त हुआ है।[१] गन्धर्व आदिकाल से ही कला प्रेमी थे, कला प्रेम इनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता थी। इस प्रकार गायन, वादन तथा नृत्य तीनों की समष्टि का ही नाम 'गान्धर्व' था। वराहमिहिरसंहिता, हरिवंशपुराण,[२] तथा वायुपुराण[३] में गंधर्व का प्रयोग 'संगीत' के अर्थ में मिलता है।

संगीत–तत्त्व का विकास सामवेद में सामवेदियों के माध्यम से हुआ। मंत्रों का उदात्त अनुदात्त–स्वरित स्वरों के क्रम से उच्चारण स्वर संगीत का ही प्रथम दिग्दर्शन कराता है।

नृत्यकला का विकास वैदिक युग में हो गया था। भारतीय संगीत परम्परानुसार शास्त्रीय तथा लोकनृत्य का जन्म धार्मिक प्रवृत्ति के माध्यम से हुआ। देवी–देवताओं की पूजा के अवसर पर भारतीय प्राचीनकाल से अपने हृदयगत उल्लासों को प्रकट करने के लिए अंग संचालन करते थे। वैदिक यज्ञों के अवसर पर ऋत्विजों का विशेष प्रकार का हस्तअंगादि संचालन नृत्य के विकास में सहायक हुआ। शिव तो 'ताडंवनृत्य' के जनक माने जाती है और पार्वती लास (सुकुमार नृत्य की जननी मानी जाती है।) 'नृत्य शब्द' नृत् धातु से बना है जिसका अर्थ है 'गात्र विक्षेप' इसमें अंग–प्रत्यंगों का मधुर एवं गतिशील संचालन किया जाता है।

---

१. ऋग् १०/८०/३, शत० ब्रा० १०/१/५
२. हरिवंश १६२६१
३. वायु पुराण– १/२१/३०

वाद्य–

चालुक्यों के काल में विभिन्न वाद्य–कलाओं की उन्नति हुई। कल्याणी के चालुक्य संगीत के उत्तम संरक्षक थे। तात्कालिक राजाओं के आश्रय में नृत्य–कला, वाद्य–कला, संगीत–कला, को विशेष रूप से प्रश्रय मिला। राजाओं की पान–भूमि में, नगरों में, महलों में एवं युद्ध के समय प्रयोग में लाए जाने वाले इन वाद्ययन्त्रों का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है। उसके आधार पर हम यह कह सकते है कि संगीत के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हो चुकी थी। यदि कुछ वाद्यों का आविर्भाव अपने यहाँ हुआ था, तो कुछ निश्चित रूप से विदेशों से आये जिनका यहाँ प्रचार हुआ। 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' में जिन वाद्यों का उल्लेख मिलता हैं उसमें कुछ हाथ से आघात करने पर ध्वनि करते थे तो कुछ हवा की फूँक से बजने वाले वाद्य थे।

चमड़े से निर्मित वाद्य–

जिन वाद्यों में चमड़े पर आघात करने पर नाद–उत्पत्ति होती है 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' में इनका विवरण प्राप्त होता है। उन्हें अनबद्ध वाद्य की संज्ञा दी गई है। 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' में अनबद्ध (चमड़े द्वारा निर्मित) वाद्य का वर्णन कई स्थानों पर मिलता है। जैसे– मृदंग आदि।

हवा की फूँक से बजने वाली वाद्य–

शंख– यह मुँह द्वारा हवा की फूँक से बजाया जाता था। यह एक मांगलिक वाद्य होता था जिसका उपयोग हर्ष के अवसर पर तथा धार्मिक अनुष्ठानों में किया जाता था। महाराजा आहवमल्लदेव, सोमेश्वर तथा विक्रमाङ्कदेव के नगर के प्रस्थान

के समय शंख नाद किया जाता था। राजाज्ञा घोषित करने के लिए भी शंख बजाया जाता था। शंख वाद्य भी एक प्राचीन वाद्य है तैत्तिरीय ब्राह्मण (३/४/१४) में शंख का वर्णन मिलता है।

तूर्य– (तूर्यते, ताड्यते, तूर + यत्, वाद्य विशेष तुरही)– इस वाद्य का विकास वैदिक युग के पश्चात् हुआ है। जो लम्बे आकार का तुरही नाम वाला था। यह हवा की फूँक से बजाया जाता था। राजाज्ञा तथा मांगलिक कार्यों के अतिरिक्त युद्ध के समय तूर्यनाद किया जाता था। एक तरह से यह मुख्य राजकीय वाद्य था। तुरही[1] की ध्वनि प्रायः सचेतक ध्वनि होती थी।

नृत्य– नृत्य कला का समाज में विशेष रूप से प्रचार था, अप्सरायें इन कलाओं में विशेष निपुण होती थी। राजागण नृत्य के विशेष प्रेमी होते थे। राजाओं के आश्रय में अनेक नृत्यांगनाएँ रहती थी।[2]

नर्तक–

नृत्य करने वाले को 'नर्तक'[3] या 'नर्तकी' कहते थे और नृत्य–क्रिया के लिए 'नृत्यति'[4] का प्रयोग हुआ है। इस युग में पुरूष–स्त्री दोनों समान रूप से नृत्य करते थे और अंग विक्षेप द्वारा भावों का प्रदर्शन करते थे। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में अप्सराओं के प्रसङ्ग में नर्तकी शब्द का प्रयोग तो मिलता है किन्तु नर्तक शब्द का प्रयोग नहीं

---

१. विक्रमा. १५/२३
२. विक्रमा. १७/२१
३. ऋग १/९२/४, १०/१८/३
४. वा० रा० २/८५/४६

४प्राप्त होता। तत्कालीन अभिलेखों में पुरुष नर्तक का उल्लेख मिलता है।[1]

संगीत की सर्वव्यापकता–

संगीत आदिकाल से लेकर मध्यकालीन समाज के मनोरंजन का मुख्य साधन था। साथ ही यह उनके जीवन का अभिन्न अंग भी था। इसीलिए एतद्युगीन राजा–प्रजा, स्त्री–पुरूष, वानर–राक्षस आदि समाज की सभी जातियों में संगीतकला को प्रश्रय मिला। नगर गीत एवं वाद्यों के मधुर स्वर में गुंजायमान रहते थे। चालुक्यों की राजधानी गीत–वाद्यों के मधुर स्वर से आपूर्ण रहती थी। विक्रमाङ्कदेव के राजमहल तथा मंदिरों के आंगन में होने वाले अद्भुत नृत्य के समक्ष स्वर्ग की अप्सराएं भी पराजित हो जाती थी।[2] अर्थात् नृत्य–संगीतादि मैं इस स्तर की दक्षता तत्कालींन समय में इसकी लोकप्रियता का ही संकेतक है।

धार्मिक पूजा पाठ के अवसरों पर भी संगीत का आयोजन किया जाता था जैसे आहवमल्ल के ज्येष्ठपुत्र सोमेश्वर तथा मध्यमपुत्र विक्रमादित्य षष्ठ के राज्याभिषेक के समय संगीत का आयोजन होगा। राजा आहवमल्लदेव की असाध्य रोग के कारण मृत्यु के पश्चात् राजमहल में शोक–ध्वनि की धुन बजाई जाती थी। इसके अतिरिक्त पूजागृहों में रानी तथा अन्य राजपरिवार के लोगों द्वारा भी संगीतमय वातावरण में पूजादि धार्मिक कृत्य सम्पन्न किया जाता था।

स्त्रियाँ भी संगीत नृत्य में पर्याप्त मात्रा में रूचि लेती थी।

---

१. दक्षिण भारत का प्राचीन इतिहास (जी. याजदानी)

२. विक्रम. १७/२१

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' में अनेक सर्गों में वैश्याओं तथा सामान्य स्त्रियों के नृत्य करने, संगीत में निपुण होने आदि का वर्णन मिलता है। उनका संगीत बड़ा ही हृदयाकर्षक होता था। क्योंकि कंठ एवं स्वर की कोमलता के कारण वे मधुरता से गायन कर सकती थी। इन वाद्यों का मुख्य रूप से प्रयोग देव मंदिरों एवं युद्ध इत्यादि के समय होता था। यद्यपि वाद्य कैसे निर्मित होते थे एवं किस प्रकार बजाये जाते थे एवं इत्यादि का वर्णन नहीं प्राप्त होता है।

विक्रमादित्य षष्ठ के दरबार में नृत्य आदि संगीतयुक्त समारोहों के होने का वर्णन बिल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' के १७वें, १८वें सर्ग में किया है।

स्थापत्य कला–

मंदिर–

दरबार के बाद कलाओं के संवर्धन में मंदिरों का योगदान रहता था। इसमें संगीत और नृत्य को तो प्रोत्साहन मिलता ही था। इसके साथ ही समाज में कला के क्षेत्र यें जो उत्तम था वह मंदिर में ईद–गिर्द एकत्र होता था। उत्त्मोत्तम वस्तुयें देवता को अर्पित की जाती थीं वस्तुतः देवता को अर्पित कर इन्हें वे स्वयं को ही अर्पित करते थे। किन्तु यह अर्पण थोड़ा घुमाकर होता था। इसी प्रकार सभी मंदिर में रूचि लेते थे और इसे सामाजिक जीवन को जोड़ने वाली एक मजबूत कड़ी के रूप में विकसित करते थे। सदियों तक मंदिरों ने ऐसी भूमिका निभाई है। जाति प्रथा में सामाजिक विविक्तता निहित थी।

कश्मीर के राजा जेयगुप्त द्वारा बनवाया गया क्षेत्र 'गौरीश्वर महादेव' का

प्रसिद्ध मंदिर आकाशरूपी आंगन को भूषणता को प्राप्त होता है। इस मंदिर के भव्यता की उल्लेख 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' में बिल्हण द्वारा किया गया है।

"तत्पर्यन्तस्थित गुणनिकामण्डपं यत्र घत्ते
धाम व्योमाङ्गणतिलकतां क्षेमगौरीश्वरस्य।
रामा रामानुकरणविधौ यत्र नाट्यप्रयोगे
योगस्थानामपि सपुलकं गात्रमासूत्रयन्ति।।"[1]

१०७३ ई० कुंडल (बेल्लारी) के संगमेश्वर मंदिर को 'पुण्यतिथियों' पर 'पंचामृतस्नान' और 'गंधानुलेप' के लिए अक्षय दान मिला। पंचामृत तो एक प्रकार से फलों का स्वादिष्ट रस मिश्रण सलाद है जो यदि ठीक से बनाया जाये वो कई दिनों तक नहीं बिगड़ता। आज तक कुछ मंदिरों में इस प्रकार के उत्तम 'प्रसाद' बनते है। 'पंचामृत' में प्रतिमा को थोडी देर तक स्नान कराते है। फिर उसे अलग कर भक्तों में वितरित कर देते है। भक्तों की जाति, धर्म या व्यवसाय का इसमें कोई ध्यान नहीं रखा जाता। इसी प्रकार चंदन का लेप त्वचा पर करने से आनंद मिलता है, विशेषकर गर्मी के दिनों में कश्मीर के राजा अनन्त की महिषी सुभरा के बनवाये हुए गौरीश्वर महादेव के मंदिर के पास में अपनी ऊँचाई के लिए प्रसिद्ध था। इस मंदिर में प्रसिद्ध अन्नागार भी था।

यत्रानन्तक्षितिपगृहिणी शंङ्करागारपार्श्वे
तन्तुङ्गिम्ना त्रिभुवनमनोरञ्जनं गञ्जधाम।
श्रुत्वा श्रुत्वा रूतमविरतं यत्र पारा वतानां

---

१. विक्रम. अष्टादशः श्लोक– २३

दक्षाः कण्ठध्वनिषु शनकैः पौरकन्या भवन्तिः।"[१]

मध्यकालीन भारत की सामाजिक अर्थ व्यवस्था में मंदिरों की भूमिका अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं थी। तैल के शासन काल के सोगल अभिलेख में कहा गया है कि मंदिर के साथ जो 'सत्र' है उसमें बनने वाला भोजन कोई ब्राह्मणी बनाती थी। मंदिरों में बड़े–बड़े दान किए जाते थे।

१०१८ ई० में बागली (बेल्लारी) के कलिदेव स्वामी के मंदिर के अक्षय दान मिला था जिससे देवता के 'निवेदय' शाश्वत दीप 'नंदादी विगे' सन्यासियों के लिए सत्र, 'गणिकाओं' के भरण–पोषण, एक सूले वाल, एक बांसुरी वादक, एक नगाड़े वाला, और एक 'पाल' के भरण पोषण और बाहर से आने वाले विद्यार्थियों 'देसिंग छात्र' के लिए व्यवस्था की गई थी।

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' में बिल्हण द्वारा राजा प्रवरसेन का बनवाया महादेव के आश्चर्य कारक मंदिर जो कि शिवमंदिर स्वर्ग में सशरीर जाने वाले राजा प्रबरसेन के स्वर्गदार तुल्य ऊपर बने छेद को धारण करता था।

गेहं यत्र प्रवरगिरिजावल्लभस्याद्भु तत्।
केषा माशां सुरपतिपुरारोपणे नातनोति।
यद्यातस्य प्रवरनृपतेर्द्यॉ शरीरेण सार्धं।
स्वर्ग द्वार प्रति ममुपरिच्छिद्रमद्यापि धत्ते।[२]

१०२६ ई० में देयूर के शिव मंदिर को रानी सुग्गलदेवी ने दान दिया था

---

१. विक्रम. अष्टादशः श्लोक– २६
२. विक्रम. अष्टादशः श्लोक– २८

जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त स्थानीय संन्यासियों और विद्यार्थियों के भोजन, वस्त्र और चिकित्सा की व्यवस्था की गई थी।

वास्तुकला और प्रतिमाएँ–

वास्तु पत्थर और धातु की प्रतिमाओं का निर्माण और चित्रकारी का अभ्यास मुख्य रूप से मंदिरों में या मंदिरों के लिए होता था। उस काल का कोई भी महल या घर अब अस्तित्व में नहीं है, तथापि पत्थरों के बने बहुत से मंदिर अभी अवशिष्ट हैं जिनमें कल्याणी के चालुक्यों के अधीन अच्छा–खासा अभ्यास मिल जाता है। १०६२ ई० के नागै के एक अभिलेख में मधुसूदन दण्डनायक द्वारा बनवाये मधुसूदन के मंदिर का वर्णन है। लेख में लिखा हैः इसका शिखर आसमान को चूमता था, इसके विशद कक्षों में स्थान–स्थान पर सुन्दर प्रमिताएँ सुशोभित थीं, इसमें एक 'नाट्यशाला' थी, एक 'गरुड़स्तंभ' था, इसके प्रवेश का गोपुरम तिमंजिला था, वह इन्द्र के विमान की भांति दिखता था, एक 'अनुष्ठान भवन' था जहाँ विभिन्न सम्प्रदायों के संन्यासी और विद्वान् शास्त्रार्थ और पूजा–पाठ करते थे, एक मठ था जहाँ वेद की सभी शाखाओं और वेदाङ्गों के साथ अध्ययन होता था, अनेक तोरण प्रसाद और प्राकार थे।

१११६ ई० में मार्तङय्य नायक के कुडितणि में मार्तण्डेश्वर नामक एक शिव मंदिर बनवाया था। उसके साथ सरस्वती और विनायक के छोटे–छोटे मंदिर थे। इस मंदिर में एक विशाल सभा मंडप था जिसमें बहुत से लोग एक साथ बैठ सकते थे। यह मण्डप लता मण्डप की भांति सुशोभित था संसार के सभी मंदिरों में यह श्रेष्ठ गिना जाता था।

११५६ ई० का बेलगांवे के एक अभिलेख के अनुसार दण्डनायक केसिराज ने केसव का एक मंदिर बनवाया था जिसकी लकड़ियों, पत्थरों आदि में भांति–भांति की उत्तम नक्काशी की गई थी और उन पर सुन्दर चित्र बने थे। इस उत्कृष्ट मंदिर के सामने उसने एक सुन्दर नगर बसाया था। जिसमें बड़े–बड़े मकान थे। हर मकान के हर कक्ष में मुलायम से मुलायम पलंग और तरह–तरह के बर्तन थे। इसी प्रकार के सुन्दर नगर विक्रमपुर को बसाने का वर्णन बिल्हण ने अपने 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' में किया है–

निरंन्तरं ब्रह्मपुरीभिरावृतं
चकार तत्रैव पुरं स पार्थिवः।
विरिञ्चिलोकात्सुरलोकतश्च यद्
विभूष्यभागाविव कौतूकात्कृतम्।।[1]

अब हम वास्तुकला के तकनीकी पक्ष पर प्रकाश डालेंगे। १०४२ ई० में किसी कुंचवडुग दासय्य से सिरूर में एक 'सिरिवागिलु' लक्ष्मी के द्वार का निर्माण किया था। सूंडि में नागेश्वर का मंदिर प्रसिद्ध विद्वान् शंङ्कराचार्य ने बनवाया था जिनकी विद्वता और चरित्र की प्रशंसा निर्माण के अभिलेख में (१०६० ई०) पूरे दो श्लोकों में की गई है। शङ्कर को ज्ञान का आगार और 'वक्रोक्तिवाचस्पति' कहा गया है।

इस लेख में खास तौर पर यह कहा गया है कि उन्होंने मंदिर को पूरा कराया और उस पर इतना सुन्दर कलश रखा जिसकी बिना देखे कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था।

---

१. विक्रम. १७/२६

शिल्प–

इस युग में 'कला' एक व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित थी और व्यावसायिक कलाकार को 'शिल्पकार' कहते थे। बहुत से दूसरे अभिलेखों के अंत में उनके खोदने वालों में नाम आए हैं। यद्यपि उस समय समूचे भारत में ऐसे संगतराश और शिल्पी पर्याप्त संख्या में थे, जो बड़ी कुशलता से अभिलेख खोद सकते थे किन्तु महाकाल की भांति कुशलता का दावा शायद किसी ने नहीं किया है।

जड़ाई की कला–

जड़ाई की कला अमीरों के लिए है। इसे मंदिरों और राज–परिवारों से ही प्रोत्साहन मिलता रहा। मारसिंध प्रभु के 'सिरूर के अभिलेख' में उन रत्नों की सूची दी है जिन्हें १०४६ ई० में उसने वहाँ के विष्णु के मंदिर में दान दिया था। उसमें कङ्कण, कटिसूत्र, बाहुपूर्ण, नूपुर, मुकुट, कुण्डल केयूर और हारादि पदकम् त्रिकम (बढ़िया लटकन के साथ हार के तीन सेट) का विशेष रूप से उल्लेख है।

विष्णु के आयुध–शंख, चक्र, गदा और पद्म–सभी रत्न जटित थे। चोल अभिलेखों में विशेषकर तंजौर के आभूषणों के इस प्रकार के विशद वर्णन तो खूब मिलते हैं, पर चालुक्य अभिलेख विरले ही इनका उल्लेख करते हैं। हमने युवराज पद के चिन्हकंठिका का उल्लेख किया था। खास–खास स्त्रियों के वर्णनों में उनके भांति–भांति के आभूषण धारण करने के उल्लेख मिलते हैं।

११४७ ई० के एक अभिलेख में सेबिसेट्टि नामक एक जौहरी का उल्लेख आया है जो सम्राट और सेनापति बर्म्मदेव को रत्न बेचता था।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

साहित्यिक सूक्तियाँ–

१. अनभ्रवृष्टिःश्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।

वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्।।१/६।।

"वैदर्भीरीति का आविर्भाव उत्कृष्ट और अच्छे काव्य की रचना करने में कुशल, पुण्यात्मा कवियों में ही होता है। अर्थात् वैदर्भीरीति में रचना हर एक कवि नहीं कर सकता। यह वैदर्भीरीति श्रवणेन्द्रिय को आनन्द देने वाले अमृत को बिना मेघ की वर्षा है, वाणी के विलास का जन्म स्थान है और पदों की यथोचित स्थान प्राप्त होकर उनके सौन्दर्यवृद्धि की जामिन है।"

२. साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।

यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति।।१/११।।

"हे कवियों में श्रेष्ठ कविगण, साहित्यरूपीसमुद्र के मंथन करने से अर्थात् चिरकाल तक अभ्यास करने से उत्पन्न और कान को सुख देने वाले काव्यरूपी अमृत की सदैव रक्षा करते रहिए। क्योंकि इस काव्यरूपी अमृत की सदैव चोरी करने के लिए, समुद्रमंथन के समय अमृत की चोरी करने में लालायित दैत्यों के समान बहुत से काव्यरूपी धन के चोर एकत्रित हो गए हैं।"

३. गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टंनास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम्।

रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ।।१/१२।।

"अथवा काव्यार्थ चोर काव्य रूपी द्रव्य की चोरी यथेच्छ करते रहें, इसमें श्रेष्ठ कवियों की कोई क्षति नहीं है। देवताओं ने समुद्र में से बहुत से रत्न निकाल लिये तो भी समुद्र अभी भी रत्नाकर ही कहा जाता है।

४. कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु।

कुर्यादनार्द्रेषु किमङ्गनानां केशेषु कृष्णागरूधूपवासः।।१/१४।।

"कवियों का गुण (वैशिष्ट्य) साहित्यविद्या अभ्यास करने में, परिश्रम न करने वाले तथा नीरस मनुष्यों पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। स्त्रियों के स्निग्धता रहित सूखे हुए केशों में चन्दन विशेष या कस्तूरीमिश्रित सुगन्धित द्रव्यों का धूप क्या कर सकता है। अर्थात् सूखे हुए केशों को सुगन्धित धूप देने से उनमें सुगन्ध नहीं आ सकती।

५. व्युत्पत्तिरावर्जितकोविदाऽपि न रञ्जनाय क्रमते जडानाम्।

न मौक्तिकच्छिद्रकरी शलाका प्रगल्भते कर्मणि टङ्किकायाः।।१/१६।।

"पण्डितों को आकर्षित करने वाली नवीन कल्पना या काव्य रचना की कुशलता मूर्खों को आनन्दित नहीं कर सकती। मोती में छेद करने की सुई टांकी का काम नहीं कर सकती। अर्थात् सूक्ष्म बातों को कुशाग्रबुद्धि ही समझ सकता है। स्थूल बुद्धि वालों को उनसे कोई सुख नहीं मिलता।"

६. कथासु ये लब्धरसाः कवीनां ते नानुरज्यन्ति कथान्तरेषु।

न ग्रन्थिपर्णप्रणयाश्चरन्ति कस्तूरिकागन्धमृगास्तृणेषु।।१/१७।।

"जो लोग अच्छे कवियों के काव्यों को पढ़कर आनन्द प्राप्त कर चुके हैं; वे अन्य छोटे मोटे कवियों के काव्यों में आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते। गंठिवन नाम के सुगन्धित पौधे को खाने के प्रेमी कस्तूरीमृग अन्य घासपात नहीं चरते।"

७. लङ्कापतेः सङ्कुचितं यशो यद् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।

स सर्व एवाऽऽदिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः।।१/२७।।

"रावण की कीर्ति जो न फैल सकी अर्थात् नष्ट हो गयी और दशरथ जी के पुत्र राम, जो कीर्ति के पात्र हुए, यह सब आदि कवि वाल्मीकि का ही प्रताप है। इसलिये राजाओं को कभी भी कवियों को कुपित नहीं करना चाहिए।

१. दोषजातमवधीर्य मानसे धारयन्ति गुणमेव सज्जनाः।

क्षारभावमपनीय गृह्णते वारिधेः सलिलमेव वारिदाः।।५/५१।।

"सज्जन लोग दोषों को छोड़कर मन में गुण को ही धारण करते हैं। मेघ समुद्र के खारेपन को छोड़कर विशुद्ध मधुर जल ही ग्रहण करते हैं।

२. मरणमपि तृणं समर्थयन्ते मनसिजपौरूषवासितास्तरूण्यः।।६/१३।।

कोई नागरी इसको देखने के लिए, गिरने का भय छोड़कर जल्दी से न चढ़े जाने योग्य घर के सबसे ऊँचे भाग पर चढ़ गयी। कामदेव के पराक्रम से अभिभावित अर्थात् कामासक्त युवतियाँ, मौत को भी तृण के समान तुच्छ समझती हैं।"

३. अवतरति मृगीदृशां तृतीयं मनसिजचक्षुरूपायदर्शनेषु।।६/१४।।

"किसी अन्य स्त्री ने अकारण कोलाहल मचाकर, विक्रमाङ्कदेव का दृष्टिकोण अपनी ओर आकर्षित किर लिया। मृगनयनियों का कामरूपी तृतीय नेत्र (ऐसे–ऐसे) उपायों का सुझा देता है।"

४. इह हि विहितभूरिदुष्कृतानां विगलति पुण्यचयः पुरातनोऽपि।।६/६४।।

"जल्दी ही तुम्हारे बड़े भाई सोमदेव की सुखानुभूति के लिये रत्तीभर भी पुण्यकर्म (अवशिष्ट) न रहेगा। क्योंकि इस संसार में अत्यधिक पाप करने वालों का प्राचीन सञ्चित पुण्य भी क्षीण हो जाता है।"

५. लम्भिताः कदलीस्तम्भास्तदूरूभ्यां पराभवम्।

अत्यन्तमृदुभिर्लब्धो जडैः क्व जयडिण्डिमः।।८/१५।।

"इसके दोनों ऊरूओं से केले के खम्भे पराजित कर दिये गये थे। अत्यंत कोमल या सीधे–साधे ठण्डे या मूर्खों से विजयदुन्दुभी का घोष कहीं भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। अर्थात् उसके ऊरू केले के खम्भे से भी अधिक सुन्दर थे।"

६. तेषां प्रसन्नों हि बिलासबाणः क्रीडन्ति दासैरिव यैर्मृगाक्ष्यः।।१०/२४।।

"क्योंकि मृगनयनियाँ दासों के समान जिनके (वृक्षों या मनुष्यों के) साथ खेला करती है उन पर कामदेव प्रसन्न होता है। कामिनी की लात के मारने से अशोक वृक्ष फूलने लगता है ऐसी कविप्रसिद्धि है।"

७. निसर्गरम्येऽपि विचेष्टिते यदतिप्रसङ्गो रसभङ्गहेतुः।।१०/८७।।

"क्योंकि प्रकृत्या रमणीय चेष्टाओं में (कार्यों में) भी अति करना नीरसता का हेतु हो जाता है।"

सामाजिक सूक्तियाँ–

१. प्रिय प्रसादेन विलाससम्पदा तथा न भूषाविभवेन गेहिनी।

सुतेन निर्व्याजमलीकहासिना यथाङ्कपर्यङ्कगतेन शोभते।।२/३२।।

"गृहिणी जिस प्रकार कपट रहित स्वाभाविक हास्य करने वाले गोद रूपी पलंग पर लेटे हुए पुत्र से शोभित होती है वैसे न तो पती की प्यारी होने से न उपयोग सुख समृद्धि की वस्तुओं से न गहना कपड़ा पहनने से शोभित होती है।

२. शुभाशुभानि वस्तूनि सम्मुखानि शरीरिणाम्।

प्रतिबिम्बमिवायान्ति पूर्वमेवान्तरात्मनि।।४/३४।।

"निकट भविष्य में होने वाली शुभ और अशुभ घटनायें प्राणियों के हृदय में प्रतिबिम्ब के समान पहले ही प्रतिबिम्बित हो जाती हैं।"

३. महात्मनाममार्गेण न भवन्ति प्रवृत्तयः।।४/६५।।

"शौर्यादिगुणों में श्रेष्ठ होने पर भी विक्रमाङ्कदेव अपने बड़े भाई सोमदेव को पिता आहवमल्ल के समान ही आदरपूर्वक मानता था। बड़े लोगों के व्यवहार अनुचित तरीके से नहीं होते।"

५. अद्यजातमपि मूर्ध्नि धार्यते किं न रत्नममलं वयोधिकैः।।५/८३।।

"मैं अवस्था में बड़ा हूँ ऐसा विचार कर क्यों मुझे चरण पर पड़ने से रोकते हो। मेरे मस्तक पर अपना चरणपल्लव रक्खो अर्थात् मुझे चरण पर पड़कर प्रणाम करने दो। क्या वयोवृद्ध आज ही प्राप्त अर्थात् नवीन निर्मल मणि को अपने मस्तक पर नहीं धारण करते अर्थात् करते ही है।"

६. गुणो कि काले गुणिनां गुणाय।।७/३२।।

"गुणियों का गुण अवसर पर ही गुणधायक होता है। अर्थात् सुग्गों का कोयल की बोली बोलना यह एक गुण है किन्तु पतिविरहजन्य दुःख की अवस्था में वह गुण अवगुण सा हो जाता है।"

७. कन्यापितृणां पदमुत्सवस्य न श्लाघ्यजामातृसमं समस्ति।।६/४१।।

"कन्या के पिताओं के लिये योग्य जमाता प्राप्त होने के समान दूसरा कोई आनन्द का विषय नहीं है।"

८. इह हि सदृशयोगः कस्य न प्रीतिहेतुः।।६/१५०।।

"क्योंकि इस संसार में वरवधू का समान गुणशील होना किसको आनन्द नहीं देता। अर्थात् समान गुणशील वाले वरवधू के विवाह से सबको आनन्द होता है।"

६. अकौशलं पत्युरिदं चिरेण विश्वासमायाति नवा वधूर्यत्।।१०/७।।

"यह पति की अकुशलता है जिससे नववधू को अपने पति में विश्वास प्राप्त होने में विशेष समय लगता है।"

१०. निरूध्य रन्ध्रं मधुपूरितस्य पुष्पस्य लोभाद्भ्रमरोऽवतस्थे।

अन्येन मार्गेण पपुस्तदन्ये लुब्धैर्जनानामयमेव मार्गः।।१०/१३।।

"एक भौंरा लोभ से पराग भरे फूल के मुख को रोक कर बैठ गया। (यह देखकर) दूसरे भौरे दूसरे मार्ग से पुष्प रस का पान करने लगे। लोभियों के साथ अन्य पुरूषों का ऐसा ही व्यवहार होता है। अर्थात् यदि कोई पुरूष लोभ से सब हमी को मिले ऐसी इच्छा से धन लेने में प्रवृत्त होता है। तो उसे देखकर अन्य लोग उसमें हिस्सा लगाने का मार्ग ढूँढ़ निकालते हैं।"

११. किमस्ति बैदग्ध्यवतामसाध्यम् ।।१०/४६।।

"चतुर जनों के लिये क्या असाध्य है अर्थात् कुछ नहीं।

१२. स्त्रीणां हि सौभाग्यमदप्रसूतिः प्रियः प्रसादो मदिरासहस्रम्।।१०/५२।।

"क्योंकि सौभाग्यरूपी नशे को उत्पन्न करने वाली पति की प्रसन्नता शराब से हजारगुना नशा पैदा करने वाली होती है।"

१३. लज्जा कुतः स्वार्थपरायणानाम्।।१०/६२।।

"अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगे प्राणियों को लज्जा कहाँ।

१४. सत्त्वमुन्नतपदात्पतितानां विद्यते न महतामपि नूनम्।।११/४।।

"ऊँचे पद से गिरे हुए बड़े लोगों में भी निश्चय ही स्वाभिमान नहीं रह जाता।"

१५. कं विडम्बयति नो कुसुमेषुः।।११/२४।।

"कामदेव किसकी विडम्बना नहीं करता यानी सबकी विडम्बना करता है। अर्थात् धोबिन को आती देखकर भीड़ हट गई और रास्ता सफा होने से वह शीघ्र अपने पति के मिलने के स्थान पर पहुँच सकी। किन्तु कामासक्त होने से उस धोबिन बनने की दुर्दशा भोगनी पड़ी।"

१६. परोपतापैकपरायणाश्चिरं क्व वा भवन्त्यभ्युदयस्य भूमयः।।१३/२।।

"केवल दूसरों को पीड़ित करने में ही लगे हुए लोग चिरकाल तक अभ्युदय के पात्र कहाँ होते हैं? अर्थात् नहीं होते।"

१७. करोषि किं शुभ्रतया तदीयया न चन्दनम् सुन्दरमेणनाभितः ।।१३/७२।।

"उसकी सफेदी का क्या विचार करना है। काले रंग की कस्तूरी से सफेद रंग का चन्दन बढ़ कर नहीं होता है।",

१८. न त्वरां दधति धीरचेतसः।।१४/१४।।

"गम्भीर ह्रदय वाले पुरूषं जल्दी नहीं करते। अर्थात् खूब विचार कर ही कुछ करते हैं जल्दी में नहीं।"

१९. जायते मतिविपर्ययो नृणां प्रायशः परिभवे भविष्यति।।१४/५१।।

"मनुष्यों का पराजय भविष्य में होनहार होने पर प्रायः बुद्धिवैपरीत्य हो जाया करता है अर्थात् बुद्धि खराब हो जाती है।"

२०. भवति हि मतिर्भाग्यभ्रंशे नितान्तमनङ्कुशा।।१४/७२।।

"क्योंकि दुर्भाग्य के उदित होने पर बुद्धि अत्यन्त निरङ्कुश अर्थात् स्वेच्छाचारिणी हो जाती है। अर्थात् उसमें विचार शक्ति नहीं रह जाती।"

२१. प्रकृतिमहसां दुर्वृत्तेष्वप्यहो चटुलाः क्रुधः।।१५/८५।।

"ऊँचे विचार वाले महात्माओं का कुकर्मियों के प्रति भी क्रोध क्षणिक रहता है।"

२२. पुण्ड्रेक्षुपाकपूतानि क्षेत्राणि दधि मांसलम्।

आसीत्कुङ्कुमचर्चा च हन्त हेमन्तजीवितम्।।१६/१३

"पौढ़ों के पकने से जगमगाते खेत गाढा दही और केसर का लेप, ये हर्ष का विषय है कि हेमन्त ऋतु के प्राण थे। अर्थात् उपर्युक्त तीनों चीजें हेमन्त ऋतु में ही प्राप्त हो सकती हैं।"

२३. प्रायेण देहविरहादपि दुःसहोऽयं।

सर्वाङ्गसंज्वरकरः प्रियविप्रयोगः।।१६/४०।।

"प्रायः सम्पूर्ण शरीर के अवयवों में ज्वर अर्थात् पीड़ा उत्पन्न कर देने वाला यह पतिवियोग मर जाने से भी अधिक दुःखद होता है।

आर्थिक सूक्तियाँ–

१. फलं हि पात्रप्रतिपादनं श्रियः ।।२/२६।।

"परशुराम के भयंकर धनुष के संहार के समान संहार करने वाला वह प्रसिद्ध राजा आहवमल्लदेव, समग्र दिशाओं को जीतकर और सैकड़ों अर्थिजनों को दान देकर कल्याणपुर में रहने लगा। क्योंकि लक्ष्मी का सार्थक्य योग्य आर्थियों को दान देना ही है।"

२. इयं हि लक्ष्मीर्धुरि पांसुलानां केषां न चेतः कलुषीकरोति।।३/४२।।

"इस प्रकार पुत्र की कर्ण को पवित्र करने वाली अर्थात् कान को अच्छी लगने वाली वाणी को सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ। क्योंकि स्वेच्छाचारिणियों में अग्रणी लक्ष्मी किनके चित्तों को मलिन नहीं कर देती अर्थात् लक्ष्मी की प्राप्ति में सभी मनुष्यों का मन कलुषित हो जाता है।"

३. अपि नयनिपुणेषु नो भरेण क्षिपति पदं किमुत प्रमादिषु श्रीः।।६/२८।।

"जिसके पावों में घाव रहता है वह स्वभाव से ही अपने चुटीले पाँव पर शरीर का कुल बोझा देकर कभी नहीं चलता है। जख्मी पांव वाली लक्ष्मी इसी से नीति निपुणों के पास भी अपने पाँव पर शरीर का पूरा बोझा देकर नहीं रहती अर्थात् सर्वतोभावेन नहीं रहती।"

४. किं प्रमाद्यसि न सर्वदासुखं कस्यचित्प्रकृतिभङ्गुराः श्रियः।।१४/४३।।

"क्यों प्रमादकरते हो अर्थात् क्यों अन्धेर करते हो। किसी को भी सदा सुख

नहीं मिलता। लक्ष्मी या शोभा स्वभाव से ही नष्ट होने वाली हैं।"

५. अश्रिया जडधियः कटाक्षिताः किं तदस्ति न समाचरन्ति यत्।।१४/५६।।

"कुलक्ष्मी की दृष्टि में पड़े मूर्ख लोग, ऐसा कौन बुरा काम है जो नहीं कर सकते।"

६. अकुर्वतां सर्वजनार्तिखण्डनं,

वृथा तडित्पल्लवचञ्चलाः श्रियः।।१७/१।।

"सब लोगों की आर्थिक पीड़ा को दूर न करने वालों की बिजली की लकीर के समान चञ्चल लक्ष्मी व्यर्थ हैं।"

राजनीतिक सूक्तियाँ–

१. न कैश्चिदपि लभ्यन्ते निष्कम्पाः सुखसम्पदः।।४/४६।।

"बेमौके ही चाण्डाल विधि ने राजा को दाहज्वर से पीड़ित कर दिया। कोई भी मनुष्य विघ्न रहित सुखसम्पत्ति को नहीं प्राप्त कर सकता है।"

२. उचिताचरणे केषां नोत्साहचतुरं मनः।।४/६१।।

"मन्त्रियों ने राजा के इस वचन को तदनुसार ही स्वीकार किया। ऐसे कौन विचारशील लोग हैं जिनका मन उचित कार्य करने में उत्साहित न हो।"

३. न कृच्छ्रेऽपि महाभागास्त्यागव्रतपराङ्मुखाः।।४/६७।।

"और उस राजाने प्रसन्न चित्त से अपरिमित सुवर्ण के ढेरों का दान किया।

महाभाग्यशाली लोग कष्ट आने पर भी दानानुष्ठान से विमुख नहीं होते।"

४. त्यागो हि नाम भूपानां विश्वसंवननौषधम्।।४/११०।।

"अत्यन्त लोभी उस राजा सोमदेव से सब प्रजा विरक्त हो गयी अर्थात् उससे कोई स्नेह नहीं रखता था। क्योंकि राजाओं में लोभ रहित दानादि क्रिया ही संसार के समस्त प्राणियों को अपने वश में कर लेने की प्रधान औषधि है।"

५. किं लक्ष्मीसुखमुग्धानामसंभाव्यं दुरात्मनाम्।।४/१११।।

"राजा सोमदेव अपने किये हुए प्रजापीडनादि बुरे कार्यों में कुमार विक्रमाङ्कदेव की भी सम्मति है ऐसा प्रकट करने लगा अथवा राजा सोमदेव कुमार विक्रमाङ्कदेव को मार डालने की भी इच्छा करने लगा। अथवा राजा सोमदेव कुमार विक्रमाङ्कदेव की अच्छी सलाह को भी बुरी समझने लगा। क्योंकि लक्ष्मी के सुख से मूढ़ता को प्राप्त दुष्ट पापियों के लिये क्या अकर्त्तव्य है अर्थात् वे सब प्रकार के अन्याय के कार्य कर सकते हैं।"

६. राज्यग्रहगृहीतानां को मन्त्रः किं च भेषजम्।।४/११५।।

"कुमार विक्रमाङ्कदेव अपने बड़े भाई के दुराचार को न रोक सका। राज्यरूपी क्रूर ग्रह से या पिशाचादि से ग्रहीत या आविष्ट राजाओं के लिये न कोई मंत्र है न दवा है।"

७. किं न सम्भवति चर्मचक्षुषां कर्म लुब्धमनसामसात्त्विकम्।।५/५।।

"इसके अनन्तर पीड़ित हृदय सोमदेव ने विक्रमाङ्कदेव के पीछे एक बड़ी

पलटन भेज दी। चर्मचक्षु अर्थात् अदूरदर्शी तथा लोभी मनुष्य कौन तामसिक कार्य नहीं कर सकते अर्थात् वे सब प्रकार के दुष्कर्म कर सकते हैं।"

८. अप्रतर्क्यभुजवीर्यशालिनः सङ्कटेप्यगहनास्तथाविधाः।।५/६।।

"अनीति रूपी कीचड़ से शङ्कित विक्रमाङ्कदेव ने सेना के पास में आ जाने पर भी उसका संहार नहीं किया। क्योंकि कल्पनातीत भुजबल से शोभित विक्रमाङ्कदेव जैसे लोग आपत्ति आ जाने पर भी घबड़ाते नहीं।"

९. वारणः प्रतिगजं विलोकयंस्तद्विमर्दरसमांसलस्पृहः।

आददे न विशदं नदीजलं शीलमीदृशममर्षशालिनाम्।।५/१२।।

"विरोधी हाथी को देखकर उसको घर दबाने के रस या जल की उत्कट इच्छा रखने वाले विक्रमाङ्कदेव के हाथी ने तुङ्गभद्रा नदी के निर्मल जल का पान नहीं किया। क्रोधियों का स्वभाव ही ऐसा होता है।"

१०. दूषणं हि मुखरत्वमर्थिनाम्।।५/१३।।

"विक्रमाङ्कदेव के हाथी ने भौरों की भनभनाहट से घबड़ा कर पानी पीने की इच्छा न की। किन्तु पानी में गोता लगाकर उनको तंग किया। क्योंकि अधिक बड़–बड़ करना याचकों का दोष है।"

११. यत्र तत्र भुजदण्डचण्डिमा चित्रमप्रतिहतो मनोभुवः।।५/१४।।

"हाथी ने पास ही में विद्यमान एक हथिनी के लोभ से विपक्षी हस्ती को छोड़ दिया। क्या आश्चर्य की बात है कि कामदेव के भुजदण्ड के पराक्रम में रोक–टोक

करने वाला कोई नहीं है। अर्थात् सभी जीव कामदेव के वशीभूत हैं।"

१२. आलुपेन्द्रमवदातविक्रमस्त्यक्तचापलमसाववर्धयत्।

दीपयत्यविनयाग्रदूतिका कोपमप्रणतिरवे तादृशाम् ।।५/२६।।

"लोकोत्तर पराक्रमशाली विक्रमाङ्कदेव ने विनीत आलुप प्रान्त के राजा का संरक्षण कर उसकी उन्नति की। औद्धत्य का सूचक शरणागत न होना ही विक्रमाङ्कदेव सदृश महानुभावों का क्रोध उत्पन्न करता है।"

१३. प्लावनाय जगतः प्रगल्भते नो युगान्तसमयं विनाम्बुधिः।।५/३६।।

"क्षत्रिय जाति, तुम्हारे ऐसे विजय की इच्छा रखने वाले के बिना असाध्य कार्य की सिद्धि करने में समर्थ नहीं हो सकती। समुद्र प्रलय काल के बिना जगत् को पानी के अन्दर डुबाने में समर्थ नहीं होता।"

१४. केसरी वसति यत्र भूधरे तत्र याति मृगराजतामसौ।।५/३८।।

"अथवा सम्पूर्ण पृथ्वी के स्वामी, तुमको अपनी पृथ्वी की अर्थात् राज्य की क्या परवाह है। शेर जिस पर्वत पर जा बैठता है वहीं वह मृगराजपद को प्राप्त कर लेता है।"

१५. तेन तस्य वचनेन चारूणा प्राप कुन्तलपतिः प्रसन्नताम्।

तीव्ररोषविषवेगशान्तये भेषजं विनय एव तादृशाम्।।५/४७।।

"कुन्तलदेशाधिपति विक्रमाङ्कदेव, द्रविड देश के राजा के दूत की पूर्वोक्त मीठी बातों से प्रसन्न हो गया। ऐसे महापुरूषों के तीव्र क्रोध रूपी विष के वेग को रोकने

के लिये केवल विनय ही औषध है।"

१६. कामुकेषु मिषमात्रमीक्षते नित्यकुण्डलितकार्मुकः स्मरः।।५/४८।।

"यह विक्रमाङ्कदेव द्रविड देश के राजा की चन्द्रवदनी कन्या कैसी होगी इस विचार से चिन्तित हो उठा। कामियों के प्रति सदा धनुष सज्ज रखने वाला कामदेव, कामियों को पीड़ित करने में कोई बहाना ही खोजता रहता है।"

१७. वेत्ति कश्चरितमुन्नतात्मनाम्।।५/५२।।

"बार–बार दिग्विजय करने में लम्पट मैंने उस द्रविड देश के राजा का क्या प्रिय किया है। तो भी वह मुझसे घनिष्ठ प्रेम रखता है। महात्माओं के चरित्र को कौन समझ सकता है।"

१८. कार्यजातमसमाप्य धीमतां निद्रया परिचयोऽपि कीदृशः।।५/७३।।

"वह चोलदेश का राजा रास्ते में कहीं बिना विश्राम लिये कुछ ही दिनों में तुंङ्गभद्रा नदी के पास पहुँच गया। बुद्धिमान् लोगों को बिना कार्य समाप्त किये निद्रा का परिचय कैसा? अर्थात् बुद्धिमान लोग बिना सम्पूर्ण कार्य पूरा किए विश्राम नहीं लेते।"

१९. यशसि रसिकतामुपागतानां तृणगणना गुणरागिणां धनेषु।।६/२

"कुन्तलदेश के राजा आहवमल्लदेव के पुत्र विक्रमाङ्कदेव ने भी द्रविड राजा के अपरिमित वित्त को याचकों को दे दिया। यश में रसिकता रखने वाले गुणग्राही जन, धन को तृणवत् समझते हैं।"

२०. कुसुममृदूनि मनांसि निर्मलानाम्।।६/३।।

"केवल गुणों से ही स्नेह करने वाला, पृथ्वी भर के लोगों को सुख देने वाला विक्रमाङ्कदेव, अपने आदर की सिद्धि से प्रसन्न चित्त, द्रविड राजा के चले जाने पर क्षण–क्षण में उसके लिये उत्कण्ठित होता था। स्वच्छ हृदय वाले मनुष्यों के मन, फूल के ऐसे कोमल होते हैं।

२१. अवतरति मतिः कुपार्थिवानां सुकृतविपर्ययतः कुतोऽपि तादृक्।

झटिति विघटते यया नृपश्रीस्तटगिरिसंघटितेव नौः पयोधेः।।६/२६।।

"दुश्चरित्र राजाओं के पाप से उनमें न जाने कहां से ऐसी बुद्धि अर्थात् कुबुद्धि आ जाती है जिससे राजलक्ष्मी, समुद्र के किनारे के पर्वतों से टकराई हुई नाव के समान शीघ्र नष्ट हो जाती है।

२२. व्रतमिदमिह शस्त्रदेवतानां दृढमधुनापि कलौ निरङ्कुशेऽपि।

अविनयपथवर्तिनं यदेताः प्रबलमपि प्रधनेषु वञ्चयन्ति।।६/३०।।

"इस जगत् में इस निरङ्कुश कलियुग में भी, शस्त्रों के अधिष्ठातृ देवताओं का सम्प्रति भी यह निश्चित नियम है कि वे अनीतिमार्गारूढ बलवान् से बलवान् को भी युद्धों में धोखा देती हैं। अर्थात् उनका साथ नहीं देती।"

२३. सकलमपि विदन्ति हन्तशून्यं क्षितिपतयः प्रतिहारवारणाभिः।

क्षणमपि परलोकचिन्तनाय प्रकृतिजडा यदमी न संरभन्ते।।६/३२।।

"दुःख की बात है कि ये दुष्ट राजा लोग द्वारपालों को रोकने से भीतर किसी

का प्रवेश न होने के कारण भीतर एकान्त होने से सम्पूर्ण जगत् को शून्य अर्थात् अपने को छोड़कर दूसरा कोई भी इस जगत् का नियन्ता नहीं है– ऐसा समझने लगते हैं। क्योंकि ये स्वाभाविक मूर्ख राजागण इस लोक को छोड़कर परलोक में जाने पर उनकी क्या दशा होगी इसका क्षण भर भी विचार नहीं करते। अथवा 'सर्वशून्य' मानकर बौद्ध हो जाते हैं। इसीलिये पुनर्जन्म नहीं मानते।"

२४. गुणिनमगुणिनं वितर्कयन्ती स्वजनममित्रमनाप्तमाप्तवर्गम्।

वितरति मति विप्लवं नृपाणामियमुपसर्पणमात्रकेण लक्ष्मीः।।६/३६।।

"यह राजलक्ष्मी पास में आते ही राजाओं में गुणी को गुणरहित, मित्र को शत्रु और विश्वासपात्रों को अविश्वासपात्र समझने का भाव उत्पन्न कर उनकी बुद्धि में भ्रम उत्पन्न कर देती है।"

२५. क्षणमनुगुणमैक्षत प्रहर्तुं मलिनधियां धिगनार्जवं चरित्रम्।।६/६१।।

"मिथ्याभाषी, कुलाङ्गारता को प्राप्त यह सोमदेव तो विक्रमाङ्कदेव की प्रार्थनाओं को सैकड़ों कसमें खा, स्वीकार कर, उसको मार डालने के लिये अनुकूल मौका खोजता था। मलिन बुद्धि वालों के चरित्र को धिक्कार है जो कि सर्वदा कौटिल्यपूर्ण होता है।"

२६. यशसि रतिर्महतां न देहपिण्डे।।६/७७।।

"किसी वीर ने मरणासन्न अवस्था में भी युद्ध में घुसकर विपक्षी वीर के मस्तक पर लात देकर अपने जीवन का फल भी प्राप्त भया समझा। बड़े लोगों का प्रेम यश में होता है शरीर में नहीं।"

२७. विमलविजयलालसाः खलानामवसरमल्पमपि प्रतिक्षिपन्ति।।६/७८।।

"कवच को उतार कर रख देने वाले और मल्लयुद्ध को तैयार विपक्षी योद्धा को देखकर कोई वीर अपना कवच उतार कर मल्लयुद्ध के लिये तैयार होकर टहलने लगा। विशुद्ध विजय से प्रेम रखने वाले वीर खलों को निन्दा करने का थोड़ा भी अवसर नहीं देते।

२८. भङ्गमेति भवितव्यता कुतः।।१४/२२।।

"राजा विक्रमाङ्कदेव के इस प्रकार कहकर, सैकड़ों सान्त्वना के प्रस्ताव सिंहदेव के पास भेजने पर भी वह, उसको अन्याय पथ से हटाने में समर्थ न हो सका। होनहार (होनी) कैसे टल सकती है।"

धार्मिक सूक्तियाँ–

१. किमश्वमेधप्रभृतिक्रियाक्रमैः सुतोऽस्ति चेन्नोभयलोक बान्धवः।

ऋणं पितृणामपनेतुमक्षमाः कथं लभन्ते गृहमेधिनः शुभम्।।२/३४।।

"यदि इस लोक और परलोक दोनों में साथ देने वाला पुत्र न हुआ तो अश्वमेध आदि यज्ञों के करने से क्या लाभ है। पितृऋण से मुक्त होने में असमर्थ गृहस्थ लोगों का कैसे कल्याण हो सकता है।"

२. परां प्रतिष्ठां लिपिषु क्रमेण जगाम सर्वासु नरेन्द्रसूनुः।

पुण्यात्मनामत्र तथाविधानां निमित्तमात्रं गुरवों भवन्ति।।३/१७।।

"वह राजपुत्र धीरे–धीरे समग्र वर्णमालाओं को अच्छी तरह से जान गया। इस

संसार में ऐसे पुण्यात्माओं के शिक्षकगण केवल निमित्त के लिये ही होते हैं।"

३. प्रणयिषु शुभचेतसां प्रसादः प्रसरति सन्ततिमप्यनुग्रहीतुम।।६/६।।

"उसने द्रविडराज की लड़की को तीनों लोकों में दुर्लभ सम्पत्ति दी। अपने स्नेहियों के सम्बन्ध में कल्याण करने की चित्तवृत्तिवालों की कृपा, उनके कन्या पुत्रादि पर भी हो जाती है।"

४. त्रिभुवनमहनीय बाहुवीर्यद्रविणविभूति मतां किमस्त्यसाध्यम्।।६/६१।।

"तीनों लोकों में पूजनीय बाहुबल, धन और ऐश्वर्य से युक्त असाधारण पुरूषों के लिये कौन कार्य असाध्य है, अर्थात् कोई भी कार्य असाध्य नहीं है।"

५. दासी यद्भवनेषु विक्रमधनक्रीता ननु श्रीरियं।

तेषामाश्रितपोषणाय गहनं किं नाम पृथ्वीभुजाम्।।६/६६।।

"जिन राजाओं के घरों में पराक्रम रूप धन से खरीदी हुई यह लक्ष्मी निश्चयपूर्वक दासी बन कर रहती है, उन राजाओं को अपने आश्रितों का (सोमदेव तथा अन्य महाकवि गुणी आदि का) पालन पोषण करना क्या कठिन है।"

६. भाग्येषु नास्ति प्रतिषेधमार्गः।।१०/४१।।

"दैव की अनुकूलता रहने पर सुखप्राप्ति में किसी प्रकार की रूकावट नहीं हो सकती है।"

७. यत्स्वकार्यमवधीर्यगृह्णते सेवयैव परितोषमीश्वराः।।१४/२।।

"क्योंकि प्रभु लोग अपना काम हो या न हो इसकी कुछ भी परवाह न कर

केवल सेवक लोगों की सच्ची सेवा से ही सन्तुष्ट होते है।"

८. यत्रमन्त्रगतिरेतिवामतां तन्न हालहलतो विशिष्यर्ते।।१४/३।।

"जहाँ षाड्गुण्य रूप सन्धि विग्रहादि मन्त्र अपना विपरीत प्रभाव दिखाता है। वहाँ ऐसा होना महाविष के समान ही भयङ्कर है। अर्थात् जिस प्रकार जहर धीरे–धीरे बढ़कर अन्त में प्राण ले लेता है उसी प्रकार विपरीत प्रभाव वाला मंत्र अन्त में उत्तर काल को नष्ट कर देता है।"

९. कः प्रसन्नमनसां यशोर्थिनां श्रीसमर्पणविधौ परिश्रमः।।१४/४८।।

"यश की कामना रखने वाले प्रसन्नचित्त मनुष्यों के लिये लक्ष्मी का त्याग करने में क्या काठिन्य है।"

१०. तेजस्विनोऽपि कुर्वन्ति किं कालवश मागताः।।१६/१५।।

"कालचक्र में पड़ जाने पर बड़े प्रतापी लोग भी क्या कर सकते हैं। अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकते।"

११. फलन्त्यत्नेन मनोरथद्रुमाः।।१७/६।।

"अनुपम पुण्यशाली लोगों के मनोरथरूपी वृक्ष बिना प्रयास के ही फलने लगते हैं।"

सहायकग्रन्थनामानि

सहायकग्रन्थनामानि

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ दक्कन (जी. याजदानी)

२. आरकैलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया– भारतीय पुरातत्व विभाग द्वारा प्रकाशित।

३. एन्सेन्ट ज्योग्रैफी ऑफ काश्मीर– काश्मीर पर निकलने वाला पत्र

४. एन्सेन्ट ज्योग्रैफी ऑफ इण्डिया (कनिङ्घम)

५. एन्सेन्ट इण्डिया (वी.डी. महाजन)

६. दक्षिण भारत का इतिहास (डॉ. एच.एन. दुबे)

७. प्राचीन भारत (परमेश्वरी लाल गुप्त)

८. प्राचीन भारत (रमेश चन्द्र मजूमदार)

९. प्राचीन भारत में नगर तथा जीवन– डॉ० रामस्वरूप शर्मा

१०. बाम्बे गजेटियर– बम्बई से प्रकाशित पत्र

११. राजतरंगिणी– कल्हण

१२. हिस्टोरिकल ज्योग्रेफी आफ एन्शेन्ट इण्डिया– डॉ० विमलशरण झा, फ्रांस, १९५४।

१३. विक्रमाङ्कदेवचरितचर्चा– आनन्द शङ्कर शास्त्री

१४. विक्रमाङ्कदेवचरितम् (डॉ० व्यूहलरस्य)

१५. विक्रमाङ्कदेवचरितम् (भारद्वाजमहोदयस्य)

१६. विक्रमाङ्कदेवचरितम् (मु० ला० शर्मणाम्)

१७. विक्रमाङ्कदेवचरितम् (रामचन्द्र शर्मा)

१८. विक्रमाङ्कदेवचरितम् साहित्यिकं सर्वेक्षणम् (डॉ० प्रियतमचन्द्र शास्त्री)

१९. संस्कृत साहित्य का इतिहास– डॉ० कपिल देव द्विवेदी

२०. संस्कृत साहित्य का इतिहास– डॉ० बलदेव उपाध्याय

२१. संस्कृत साहित्य का इतिहास– डॉ० मङ्गलदेवशास्त्री

२२. हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृतलिट्रेचर– एम्० कृष्णमाचारियर।